

GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO 56943

CALL No. 709. 5A/Ram

D.G.A. 79



Natyakalina Bhavatya Nālān
svām
vishnū Viśvāsa

Ramnath

Rajasthan Hindi Granth Academy
Jaipur, 1973

मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास

56943

लेखक

डॉ रामनाथ



709.54

Ram

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय प्रन्थ-योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दू प्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित:

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्यः

पुस्तकालय संस्करण : [REDACTED] ४०.००

साधारण संस्करण : [REDACTED] ३५.००

सर्वोचित प्रकाशक के अधीन

CENTRAL AVAILED LIBRARY
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 56943

Date 15-1-75

Call No. 109-54

Ram

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दू प्रन्थ अकादमी
ए-२६/२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर - ४

मूल्यः

अभ्यरेत्र प्रिंटिंग वक्स
शी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार,
जयपुर - ३

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए “वैज्ञानिक तथा पारिमाणिक शब्दावली श्रायोग” की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत 1969 में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में गन्य अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी गन्य अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-प्रथों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत प्रस्तक इसी क्रम में तैयार करवाई गई है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की समीक्षा के लिए अकादमी डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, अध्यक्ष इतिहास विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय की आभारी है।

चंदनमल वैद

अध्यक्ष

सत्येन्द्र

निदेशक

प्रिय मित्र

पण्डित महेन्द्रकुमार सारस्वत

को

साक्षर सम्प्रिय

प्राककथन

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुख मध्यकालीन भारतीय कलाओं और चित्र, सगीत और वास्तु के विकास का संक्षिप्त विवेचन है। इसकी रचना राजस्थान हिन्दी गन्ध अकादमी के तत्त्वावधान में विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए की गई है। चित्र और वास्तु दोनों ही हज़र विषय हैं इसलिये इसमें सन्दर्भनियां आवश्यक चित्र भी दिये गए हैं। शायद हिन्दी में वास्तु-विषयक यह पहला शैक्षणिक ग्रन्थ होगा इसलिये इसके साथ वास्तु-सम्बन्धी एक संक्षिप्त पारिभाषिक गlossary (Glossary) भी दी गई है। कुछ परिभाषाओं को चित्रांकनों द्वारा समझाया गया है। भाषा को सरल और सुविध रखने का प्रयत्न किया गया है। हमारे विद्यार्थी को इस स्तर पर कौसी भाषणी दी जाये जिससे व्यक्तिगत कृपा से उसका बोलिक विकास तो हो ही, उसमें अपनी संस्कृति के प्रति अद्वा और अपने देश के लिए प्रेम भी उत्पन्न हो—मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में निरन्तर यह ध्यान रखा है। हमारा नवयुवक बड़ी तेजी से अपनी प्राचीन संस्कृति में दूर होता जा रहा है—यह शिक्षा-क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या है। पुरानी पीढ़ी के लोग पाँच हजार वर्षों को संचित उस सांस्कृतिक धरोहर को किसे सौंप जायें जो उनके पूर्वज उन्हें दे गये हैं? यह धरोहर के बल संग्रहालयों और ग्रन्थालयों में ही पुराणित नहीं रहती है। नये युग के राधीन प्रभाव में हमारा नवयुवक पुराणों रंग न जाये और अपनी संस्कृति और इतिहास के प्रति उसमें निरन्तर प्रेम और लगाव बना रहे—इस उत्तरदायित्व की कोई भी शिक्षक टाल नहीं सकता।

राजनीतिक प्रक्रियाओं और युद्धों का इतिहास अपेक्षाकृत सरल अध्ययन है। इसके विपरीत संस्कृति का इतिहास, विद्येषकर कलाओं के विकास का इतिहास, कठिन होता है। इसमें इससे सम्बद्ध विभिन्न भावनाओं, प्रेरणाओं और प्रनावों का विश्लेषण करना पड़ता है और एक बड़े विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करने के पश्चात् ही कोई निराश हो पाता है। यहा भूल हो जाना आमाज है और मुझे वह कहते थे कि हिन्दूकिंचाहट नहीं है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत-सी भूलें और कमियाँ होंगी। किन्तु इतिहास में 'अन्तिम शब्द' कोई नहीं कहता। इतिहास एक क्रमिक अध्ययन है, स्वयं में एक विकासशील क्रिया है, निरन्तर बढ़ते रहने वाला एक पौधा है जिसमें धन्त्तिमात्र अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान देता है आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्ग उन्मुक्त कर जाता है।

मैं राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रोफेसर डॉ० गोपीनाथ और रीडर डॉ० मामराजसिंह जैन के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के उप-निदेशक थी यशदेव शल्य, कार्यालय-अधीक्षक थोड़े हरीसिंह और मैससे गुलाबीनगर एष्टरप्राइज इंटरनेशनल जयपुर के निरन्तर अविलम्ब सहयोग के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। अपने कोटोग्राफर संबंधी वेदप्रकाश और सत्यप्रकाश (नाइस स्टूडियो, आगरा) और थोड़े सन्तोषकुमार को भी मैं उनकी सहायता और सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ।

विषय-सूची

मुख्य संस्करण

नूमिका :

भाग (१) - चित्रकला

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	१
२. अपधंश-शैली	३
ईरानी शेरणा, (४)	
पाल-शैली, (६)	
कला-संरक्षणा, (७)	
३. राजस्वानी-शैली	८
४. मुगल चित्रकला	११
बरमोल्ये, (१६)	
देशी जैनियों का विकास (१८)	

भाग (२) - संगीत-कला

५. संगीत को प्राचीन परम्परा	२१
६. सल्तनत काल में संगीत का विकास	२३
मोमुक्तिक पुनरुत्थान का युग, (२५)	
७. मुगलकाल : संगीत का स्वरण-युग	२७

भाग (३) - वास्तु-कला

८. प्राचीन वास्तु परम्पराएँ	३१
९. सल्तनत काल की वास्तुकला	३५
(१) गुलामवंश को इमारतें (१२०६-१२६०), (३५)	
(२) खिलजी युग की इमारतें (१२६०-१३२०), (३७)	
(३) तुगलक-कालीन इमारतें (१३२०-१४११), (३८)	
(४) संवादी, लोदियों और सुरों को इमारतें	
(१४११-१७४५), (४०)	

१०.	प्रान्तीय वास्तुजैलियाँ	५३
(१)	बगाल, (४३)	
(२)	जौनपुर, (४५) ✓	
(३)	पंजाब और सिन्ध, (४६)	
(४)	गुजरात, (४६)	
(५)	माण्डू, (५१)	
(६)	दक्षिण की वास्तु-जैलियाँ (५१)	
११.	मुगल वास्तु-जैली	५३
	बाबर और उसकी जार-बाग व्यवस्था, (५३)	
	नये युग का अवतरण, (५४)	
	हृमादू का मकबरा, (५६) ✓	
	मुहम्मद गीस का मकबरा, (५६)	
	अकबरी जैली की इमारतें, (५७) ✓	
	जहांगीर-कालीन इमारतें, (६०)	
	शाहजहाँ का स्वर्ण-युग, (६८) ✓	
	ताजमहल, (७१)	
१२.	उपसंहार	७७
	मध्यकाल की हिन्दू वास्तुकला और समन्वित जैली का विकास, (७७)	
	पारिभाषिक शब्दावली	८१
	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	८१
	चित्र-सूची	८३
	चित्राकल-सूची	१-७६

भूमिका

भारत में समय-समय पर बहुत से आक्रान्ति आये। सीमांत्र प्रदेशों को जीतते हुए कुछ देश के भीतरी भागों तक आ गये। बहुत से विजेता जैसे वक, कुपाण और हृण यहीं बस गये। उन्होंने यहाँ की संस्कृति को अपना लिया और धोरे-धीरे वे भारतीय समाज में चुलमिलकर एक हो गये। प्राचीन-काल में विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप राजनीतिक उथल-मुथल तो बहुत हुई किन्तु सांस्कृतिक संघर्ष की विभीषिकाएँ उतनी देखने में नहीं आयी। हिन्दू धर्म में विभिन्न विचारधाराओं और विभिन्न हास्टिकोणों को आरम्भात कर लेने की अद्भुत क्षमता है। उसकी उदारता की सीमाएँ बड़ी विस्तृत हैं। हिन्दू शब्द की व्यापक परिभाषा है और उसे किसी एक परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। शिव की उपासना करने वाला भी हिन्दू है और कृष्ण का उपासक भी हिन्दू, काली का भक्त भी हिन्दू है और हनुमान का भक्त भी। हिन्दू पेड़ों की भी पूजा करते हैं और पत्थरों की भी। जो ईश्वर को मानता है वह भी हिन्दू है और जो नहीं मानता वह भी हिन्दू है। जो प्रतिदिन ईश्वर मन्दिर में पूजा करता है वह तो हिन्दू है ही, जो कभी भगवान का नाम भी नहीं लेता वह भी हिन्दू है। वास्तव में हिन्दू धर्म में कोई ऐसा धार्मिक प्रतिबन्ध या अनुशासन नहीं है जिसका पालन करके ही कोई हिन्दू कहलाने का अधिकारी हो। हिन्दू धर्म तो जीवनयापन का एक ढंग है, कुछ मुन्द्र आस्थाओं और कुछ कोमल मान्यताओं को प्रतिदिन के जीवन में ढालने की एक क्रिया है। यह व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है कि वह ईश्वर को कितना माने और उसकी आराधना कैसे करे।

किन्तु १२वीं शताब्दी के अन्त में, अर्द्धात् मध्यकाल के प्रारम्भ में दिल्ली सल्तनत की स्वापना के उपरान्त, एक नई ही परिस्थिति उत्पन्न हुई। तुकं लोग वक और हृणों की तरह खाली हाथ नहीं आये, वे अपने साथ अपनी धार्मिक मान्यताएँ और सामाजिक व्यवस्था के अपने मानदण्ड लेकर आये। इस्लाम के कुछ निश्चित सिद्धान्त थे। प्रत्येक मुसलमान को काबे की ओर मुँह करके प्रतिदिन नमाज पढ़ना, वर्ष में एक मास रोजा रखना, जीवन में एक बार हज़ करने जाना—आवश्यक था। खुदा और खुदा के पंगम्बर हज़रत मुहम्मद में विश्वास रखना। उसका प्रथम कर्तव्य था—‘ला इलाहा इल्लाह मुहम्मद रसुल अल्लाह।’ इसमें उसे कोई स्वतंत्रता नहीं थी और मुसलमान बने रहने के लिये उसे इन सब निश्चित आदेशों का पालन करना आवश्यक था। समाज और राजनीति इस व्यवस्था में गौण और धर्म के अधीन थे। इसमें या खलीफा इस्लाम का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था और वेधानिक

दृष्टि से वही सारे इस्लामिक विश्व का सांसारिक और धार्मिक नेता और गुरु था। उसका ध्येय इस्लाम का प्रकाश सारे संसार में फैलाना था अर्थात् "दाखल हवै" (नास्तिकों के संसार) को "दाखल-इस्लाम" (इस्लाम के संसार) में बदल देना था। इसके लिये मुल्ला बल प्रयोग किए जाने की छूटपट्टी देते थे।^१ सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जन्मा इस्लाम धर्म तलबार के बल पर १०० वर्ष से कम समय में ही मिश्र और ईरान जैसे प्राचीन प्रदेशों में कैल गया और धीरे-धीरे उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को समूल नष्ट कर दिया। पश्चिम में स्पेन तक और पूर्व में भारत तक यह धर्म निरन्तर फैलता चला गया।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् इस प्रकार परस्पर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की तरह पृथक दो बड़ी धार्मिक व्यवस्थाओं का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। यह बड़े रहस्य की बात है कि लगभग ५०० वर्ष भयंकर विभीषिकाओं के साथ चलते रहने पर भी यह सांस्कृतिक युद्ध अनिरुद्ध रहा। न तो हिन्दू-धर्म प्राक और हुणों की तरह इन विजेताओं को आत्मसात् कर सका और न ये विजेता ही मिश्र और ईरान की तरह यहाँ की प्राचीन संस्कृति को नष्ट करने में सफल हुए। बहुत-से उत्थान पतन हुए। राजनीतिक सत्ता अलबरी तुक़, खिलजी, तुगलक, लोदी, सूर और उनके पश्चात् मुग़लों के हाथ आई। किन्तु धार्मिक विद्वेष और धूरण ज्यों की त्यों बनी रही।

बहुत-से इतिहासकारों ने जब मध्यकालीन सांस्कृतिक संघर्ष का मूल्यांकन किया तो या तो संस्कारगत विद्वेष के कारण या पक्षपात की भावना के वशीभूत इस युग की कलात्मक उपलब्धियों पर समुचित विचार नहीं किया। मध्यकाल के विद्वंसात्मक इतिहास के नीचे उसका सृजनात्मक पक्ष दब गया। युद्धों, जजिया और अन्य अपमानजनक करों, भन्दिरों को तोड़े जाने की घटनाओं, घड़यन्त्रों और हत्याओं से व्याप्त मध्यकाल को अधिकांशतः अन्धकारमय युग कह दिया गया। इस अवमूल्यन से बहुत-सी भ्रान्तियाँ पैदा हो गईं।

इस युग का अपना एक रीचक इतिहास भी है। बहुत-सी सृजनात्मक प्रेरणाएँ मध्यकालीन भारत में आई और उन्होंने देश की कला-परम्पराओं को भक्ति दिया। उनके जिधिल हुए अवयवों को पुनर्जीवन मिला और बिना किसी विद्वेष के उन विजेताओं के आश्रय में ही वे विकास की नयी दिशा की ओर चल निकली। यों भारतीय कलाएँ, अनवरत, मध्यकाल की विभीषिकाओं में भी पलती रहीं। यह युग भारतीय संस्कृति के लिये उतना विनाशकारी नहीं था जितना आमतौर पर हम समझते हैं। इस युग का इन कलाओं—चित्र, संगीत और वास्तु—के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है जो इस काल की प्रमुख भावनाओं और धाराओं का इन कलाओं के सन्दर्भ में पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है।

१. हजरत मुहम्मद ने कुरान (सूरा-६ आयत-२६) में उन लोगों के विरुद्ध जिहाद का आदेश दिया जो ईश्वर और इस्लाम में विश्वास नहीं करते थे। यह आदेश अरब देश की तलालीन राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दिया गया था। वास्तव में हजरत मुहम्मद का उद्देश्य बलपूर्वक किसी धर्म को धोपना नहीं था। कुरान के सूरा-२ आयत-२५६ में उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म के मामले में कोई वल-प्रयोग नहीं होना चाहिये।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। चित्रकला संबंधी उल्लेख उपनिषदों में मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में जो तीसरी-चौथी प्रातांन्द्री ईसा पूर्व पाली में लिखा गया, राजा प्रसेनजित के चित्रागार का वर्णन है। महाउम्मग जातक में गंगा पर बने महाउम्मग महल के चित्रों का उल्लेख है। महाभारत और रामायण काल में भी महलों और मन्दिरों में चित्र बनाए जाते थे। कौटिल्य भी चित्रकला से भली-भाँति परिचित थे और उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न चित्रविधियों का उल्लेख किया है। पुराणों में ऐसी चित्र-विधायों का विस्तृत वर्णन है। विशेषकर विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में चित्रकला का विशद विवेचन किया गया है। शिल्प-शास्त्रों में वास्तुकला और प्रतिमाविज्ञान के साथ-साथ ही चित्रकला का वर्णन किया जाता था।

संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उद्धरण मिलते हैं। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल, चित्रमोवंशीयम्, कुमारसम्भव, मेघदूत आदि लगभग अपने सभी ग्रन्थों में चित्रणालायों का वर्णन किया है। बाणी की कादम्बनी और हृष्णचरित के प्रत्येक महल में भित्ति-चित्रों से अलंकरण का वर्णन मिलता है—

“आलेख्य गृहैरिव बहुवर्णी चित्रपत्र शकुनिश्चत सशोभितः”

श्री हृष्ण के नैषध-चरित में चित्रकला को यही महस्त्र दिया गया है। भवभूति तीनों प्रकार के चित्रों का वर्णन करते हैं—पट्ट, पट् और कुछ्य (भित्ति)। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में चित्रकला को अन्य शिल्पों से उत्तम समझा जाता था—

“चित्रं हि सर्वं शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्”

वात्सायन ने अपने कामसूत्र में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है :—

१. रूपभेद
२. प्रमाणाम्
३. भाव
४. लावण्य-योजनम्
५. साहस्रम्
६. वर्णाका-भेग

चित्र-सिद्धान्तों के इस सूठम विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में चित्रकला की अत्यधिक प्रगति हो गई थी और इस कला का विधिवत शास्त्रीयकरण हो गया था। भारतीय चित्रकार वर्तमान अर्थात् प्रकाश और छाया के सिद्धान्त से भी भलीभाँति परिचित था। इसका वर्णन ११वीं

मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास

शताब्दी में राजा भोज ने अपने समरांगण-सूत्र-धार में किया है। भारतीय चित्रकार रूपरेखाएं स्त्रीचने और आकृति बनाने में सिद्धहस्त था और प्रमाण धय और वृद्धि के अन्य सिद्धान्तों की बारी-कियां भी वह खूब समझता था।

भारतीय चित्रकला का सर्वोन्मुख विकास अजन्ता के भित्ति-चित्रों में परिलक्षित हुआ है। अजन्ता में कुल २६ गुफाएँ हैं जिनमें भूल रूप से १६ में चित्र बनाए गए थे। अब केवल ६ गुफाओं में चित्र शेष रह गए हैं। इसा की प्रथम शताब्दी से ७वीं शताब्दी तक अजन्ता में चित्र बनाए गए। पहली और दूसरी गुफाओं में ६२७-२८ ई० के आसपास चित्र बने। ये चित्र अत्यन्त दब्ल आचार्यों द्वारा बनाए गए हैं। इनमें अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भावभंगी और अंग-प्रत्यंगों की मुन्द्ररता, नाना प्रकार के केशपाण, वस्त्राभरण आदि तत्त्वों को बड़ी मुन्द्ररता से चित्रित किया गया है और ये दर्शक की सौन्दर्यनिभूति पर स्थाई प्रभाव अंकित करते हैं। पशु-पक्षी, वृक्ष, तड़ाग और कमल आदि के चित्र भी बड़ी निपुणता से बनाए गए हैं। मुन्द्रर सांगों का प्रयोग किया गया है और चित्र में उनका मिश्रण बड़ा मुर्छिपूरण है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौन्दर्य की आत्मा से साक्षात्कार कर लेने वाले कलाकार के अतिरिक्त कोई दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता।

भारतीय चित्रकला पाश्चात्य चित्रकला की

तरह रूप-प्रधान न होकर भावप्रधान है। आन्तरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में भारतीय कलाकार प्रवीण था। अजन्ता के कुछ चित्र इतने भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। वे केमरे से जिन्होंने हुई फोटो के समान सही प्रनुक्ति हैं, किन्तु निर्जीव नहीं हैं, उनमें रक्त प्रवाहित होता है और वे जीवित-सी लगती हैं। उनकी मुद्राओं में गति है और चेहरों पर भाव अंकित हैं।

अजन्ता में भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष अंकित है। इसके पश्चात् बदली हुई परिस्थितियों के कारण कला का पतन होना आरंभ हो गया। एलोरा में इस ऋमिक ह्लास के समुचित प्रमाण मिलते हैं। वहाँ चित्रों में न तो वह कमनीयता है और न भाव-व्यंजना की वह अद्भुत क्षमता ही। आकृतियों की नाक आवश्यकता से कुछ अधिक लम्बी होती जाती है और परली निकली हुई आँख का मूलरूपेण आरंभ हो जाता है। इनकी रेखाओं में कोणात्मक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। पुरुषों के परले वक्ष को आवश्यकता से अधिक गोल करके आगे बढ़ा दिया जाता है। ये सभी तरव उस मध्यकालीन भारतीय चित्रकला-जैली के सूचक हैं जिसे भूल से जैन या गुजरात जैली कहा जाता है, लेकिन वास्तव में इसे “अपभ्रंश-जैली” के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त होगा।

अपभ्रंश - शैली

यह शैली भारत में ११वीं से १६वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग सम्पूर्ण सलतनत काल में प्रचलित रही। इस शैली के कुछ मिति-चित्र भी मिले हैं किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। मुख्यतः ये चित्र जैन-धर्म संबंधी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बोच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं। इनमें कपड़े के गुड़े जैसी आकृतियाँ हैं जो प्रायः सवाच्छम हैं। परली आँख बाहर निकली हुई अधर में लटकी रहती है। नाक नुकीली और आवश्यकता से अधिक लम्बी होती है। ये आकृतियाँ निर्जीव और बेड़ील होती हैं। जैसे श्वेताम्बर जैन मूर्तियों में शीशे की आँखें लगा दी जाती हैं वैसा ही आलेखन इन चित्रों में किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन आकृतियों की आँखें शीशे की हैं और उन्हें चिपका दिया गया है। अंग-प्रत्यंगों का आलेखन भी स्वाभाविक नहीं है। पुरुषों का परला वक्ष गोल और ऐसा उठा हुआ बनाया जाता है जैसे स्त्रियों के स्तन हों, पेट कुप्रण और पिचका हुआ, हाथों की उंगलियाँ ऐसी जड़ जैसे मानों कपड़े की वर्तियाँ हों। ये आकृतियाँ प्रसंगानुसार तो अवश्य बनाई जाती थीं किन्तु इनमें भावों का सर्वथा अभाव रहता था।

✓ इन चित्रों में पीले और लाल रंगों का प्रयोग

अधिक हुआ है। रंगों को गहरा-गहरा लगाया गया है। पृष्ठभूमि आकृतियों के ऊपर चढ़ जाती है और वर्तना, धय-वृद्धि आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। पेहों का अकन गुलदस्ते जैसा किया गया है। पश्चुपक्षी कागज के खिलौने या कपड़े के गुड़े जैसे प्रतीत होते हैं। एक ही चित्र में कई-कई हृष्य अलग-अलग दिखाए गए हैं जो बड़े बेमेल और असंगत लगते हैं। ये प्राचीन नागर-शैली का अप-अंश स्वरूप हैं और इसलिए इसे जैन या गुजरात जैसे किसी धर्म विशेष या किसी प्रान्तीय परिभाषा में न बोधकर, 'अपभ्रंश-शैली' का नाम दिया गया है।

गुजरात के पाटन नगर से भगवती सूत्र की एक प्रति १०६२ ई० की प्राप्त हुई है। इसमें केवल अलंकरण किया गया है, चित्र नहीं है। अनुमान है कि पोथियों को चित्रित करने की परंपरा इसके पश्चात् आरंभ हुई। सबसे पहली चित्रित कृति ताड़-पत्र पर लिखित 'निशीब-चूर्णि' नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में ११०० ई० में लिखी गई थी और अब पाटन के जैन-भण्डार में सुरक्षित है। इसमें बेलबूटे और कुछ पशु-आकृतियाँ हैं। १३वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण का बाहुल्य हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताड़-पत्र की होती थीं। १४वीं शताब्दी से कागज का प्रयोग

होने लगा। अपभ्रंश के सबसे सप्राण उदाहरण काशज की पोथियाँ से मिलते हैं। गुजरात के अतिरिक्त माणू और जौनपुर इस शैली के प्रन्य प्रमुख केन्द्र थे। इस शैली में धीरे-धीरे घोड़ों को बुरी लगने वाली जड़ता कम हो जाती है और आकृतियाँ कुछ गतिमान प्रतीत होने लगती हैं। उदाहरण के लिए, हाथी का पाँव उठा कर चलना इस शैली के विकास को सूचित करता है। फिर भी अजन्ता का लालित्य और सौन्दर्य इन चित्रों में नहीं है।

११०० से १४०० ई० के मध्य जो चित्रित ताड़पत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं, उनमें 'अंगसूत्र', 'कथासरित्सागर', 'विष्णुश्लाका-पुरुष-चरित', 'थी नेमीनाथ चरित', 'आवक-प्रतिकमण चूणि' आदि मूर्ख हैं। १४०० से १५०० ई० के काल में जो पाण्डुलिपियाँ चित्रित की गई हैं उनमें 'कल्पसूत्र' 'कालकाचार्य कथा' और 'सिद्धहैम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुजरात में प्राप्त सभी चित्रित कृतियाँ जैन धर्म से संबंधित हैं। कल्पसूत्र महानीर और अन्य जैन तीर्थकरों की जीवन-कथा से संबंधित हैं और ग्रसंगानुसार ऐसे ही इसमें चित्र हैं। कल्पसूत्र को एक चित्रित प्रति १२३७ ई० की ताड़पत्र पर भी प्राप्त हुई है। यह पाटन के भण्डार में है। इन सबमें ध्यान देने की वात यह है कि पृष्ठ के कथानक से चित्र का अधिक संबंध नहीं होता है। लिपिक खाली स्थान (आलेख्य स्थान) छोड़कर आगे बढ़ जाता है और उसमें बाद में चित्रकार चित्र बनाता है।

यह स्मरणीय है कि कल्पसूत्र की प्रतियाँ विशुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित होकर बनाई जाती थीं। धनवान लोग इन्हें बनवाकर जैन साधुओं को समर्पित कर देते थे। इस कार्य को बड़ा पूर्णमय समझा जाता था। वे लोग इन्हें सुरक्षित रखते थे। वर्ष में एक बार पर्युषण के प्रवसर पर इन प्रतियों को निकालकर श्रोताओं को सुनाया जाता था और इनके चित्र दिखाए जाते थे। यही कारण है कि इनकी रचना परम्परागत ढंग से स्थापित रुदियों के आधार पर होती रही। कालकाचार्य-कथा जैसे ग्रन्थों के चित्रों में यथापि तैमूरी वेयभूषा का प्रयोग

१४वीं शताब्दी में होने लगा तथापि जैन विषयों में वही नुकीली नाक, अधर में भूलती परली आंख और नुकीली दुहरी ठुड़डी काफी देर तक दिखाई जाती रही।

लिखने और चित्र बनाने के लिए काशज का प्रयोग आरंभ होने पर चित्रित पाण्डुलिपियों की शैली में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की १५वीं और १६वीं शताब्दी में अनेकों प्रतियाँ बनाई गईं (चित्र-१)। हिन्दों में भी कामचास्त्र पर अनेक चित्रित पाण्डुलिपियाँ बनी जैसे 'रति-रहस्य'।

इस शैली के ही अंतर्गत चित्रित 'बसन्त-विलास' नामक एक कृति मिली है। इसमें कालिदास के कृतु-संहार की शैली पर बसन्त के सौन्दर्य का कविता में वरण्णन है और तदनुरूप चित्र बनाए गए हैं। कुल ७१ चित्र हैं। ये अन्य धार्मिक कृतियों जैसे हो हैं। बसन्त-विलास की रचना १४५१ ई० में हुई। एक अन्य पटचित्र १४३३ ई० का पाटन से प्राप्त हुआ है। यह तीस फीट लम्बा और ३२ इन्च ऊँड़ा है। इसमें जैन तीर्थों के चित्र हैं। यात्रियों के चढ़ने-उतरने, मुनियों के हश्य आदि इसके सभी विषय धार्मिक हैं (चित्र-२)।

ईरानी प्रेरणा

इस काल में एक बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन और होता है। १११२ में तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। मुसलमान अपने साथ कुछ नए नए तस्व लाए और धीरे-धीरे देशी कलाकारों ने उन प्रेरणाओं को स्वीकार करना आरंभ किया। १४वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही गुजरात का प्रदेश दिल्ली के अधीन हो गया। इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मान खुल गया। १४वीं और १५वीं शताब्दी की अपभ्रंश शैली के चित्रों में ईरानी प्रभाव स्पष्ट हृष्टगोचर होता है। उदाहरण के लिए अहमदाबाद से प्राप्त कल्पसूत्र की एक प्रति में आकृतियाँ ईरानी शैली से प्रभावित हैं। वस्त्रविन्यास और साजसज्जा भी ईरानी हैं। ईरानी बेल-बूटों का प्रयोग किया है। अहमदाबाद से प्राप्त १५वीं शताब्दी के उत्तराधि में रचित 'कल्पसूत्र' की यह प्रति अपभ्रंश

शैली को सबसे उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इसके हावियों में सुन्दर ढंग से अंकित राग-रागिनियाँ, भिन्न-भिन्न नृत्यों और भाव-भंगिमाओं के चित्र बड़े प्रभावशाली हैं। इनका आलेखन सजीव और भाव-पूर्ण है। तुने हुए अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूरण ढंग से किया गया है। नई संस्कृति के संसर्ग का काफी प्रभाव इन चित्रों पर परिलक्षित होता है। कालिकाचाय-कथा के चित्रणों में भी यही प्रभाव देखने को मिलता है। मध्यकाल के इस चरण में कला, विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख हो गई। नए युग ने कलाकारों को नई प्रेरणा और कला को नया जीवन प्रदान किया।

१६वीं शताब्दी में इस शैली में सौन्दर्य और सजीवता था जाती है। लगभग १५२५ ई० में कृत अवधी 'लौर-चन्दा' काव्य के उपलब्ध कुछ चित्रित पृष्ठों में इस शैली का क्रमिक विकास स्पष्ट हृष्टि-गोचर होता है (चित्र-३)। 'लौर-चन्दा' हिन्दी-अवधी प्रेम कथाओं में सबसे अधिक पुराना ग्रंथ है। इसकी रचना १३७० में मुल्ला दाउद ने 'चन्दायन' नाम से की थी। बदायूनी के समय में यह काव्य अधिक प्रचलित था। अपने इतिहास-ग्रंथ 'मुन्ताखावृतवारीख' में बदायूनी लिखता है कि चन्दायन को मुल्ला दाउद ने खान-ए-जहान मकबूल (द्वितीय) के समय में बनाया। इसमें लौरिक (प्रेमी) और चांद (प्रेमिका) के प्रेम की कथा है जो बड़ी नस्मीनी है और गाकर सुनाई जाती है। इसकी प्रतियाँ बाद में चित्रित की गईं। अवधी को फारसी लिपि में लिखा गया है। एक प्रति के कुछ चित्रित पृष्ठ बनारस के भारत कला भवन में हैं। अन्य प्रतियाँ लाहौर, चण्डीगढ़ आदि के संग्रहालयों में हैं। जबकि लाहौर संग्रहालय की प्रति के चित्र राजस्थानी शैली के हैं, और भारत कला भवन के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं। इनमें आकृतियाँ गतिमान हैं। आखिं शीशों के मूर्तिमान नेत्रों जैसी नहीं बरन् सजीव हैं। अतिथय अलंकरण का भी इन चित्रों में अभाव है। विषय को भावपूर्ण ढंग से चित्र द्वारा प्रस्तुत करने का चित्रकार ने प्रयत्न किया है (चित्र-४)। अवधी के इन चित्रित पृष्ठों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि अपभ्रंश-शैली का प्रचलन केवल मुजरात, राजस्थान और मालवा

तक ही सीमित नहीं था। सम्भवतः इसकी रचना जौनपुर में हुई जो मध्यकालीन संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था और जहाँ देशी कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता था।

जौनपुर में १४६५ ई० में चित्रित कल्पसूत्र की एक प्रति मिली है। १४६६ में सुल्तान महमूदशाह खिलजी के राज्यकाल में रचित कल्पसूत्र की ही एक चित्रित प्रति माण्डू से प्राप्त हुई है (चित्र-५)। इन जैन कृतियों में ईरानी प्रभाव हृष्टिगोचर होता है। कलाकार निश्चय ही भारतीय थे किन्तु वे ईरानी कला और उसके नवकाशीदार डिजाइनों से परिचित अवश्य रहे होंगे। माण्डू के 'कल्पसूत्र' की चित्र-शैली का ही विकसित रूप हमें माण्डू में ही रचित 'न्यामतनामा' में मिलता है।

मालवा के सुल्तान सांस्कृतिक कार्यों में बड़ी एच्जि लेते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी राजधानी माण्डू पूर्व मुगल-काल में एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक केन्द्र था। उनका विदेशी राजदरबारों से संपर्क था। १४६७ में महमूद खिलजी के यहाँ बाबर के पितामह मिर्जा अबू सर्ईद का राजदूत जमालुदीन अस्तराबादी आया। इन संपर्कों के माध्यम से ईरान और माण्डू के मध्य चित्रकला का आदान-प्रदान होता था। माण्डू में चित्रित ग्रंथों में ईरानी-कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'न्यामतनामा' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया जा सकता है। पाक-शास्त्र का यह ग्रंथ गायासुहीन खिलजी (१४६६-१५०० ई०) के राज्यकाल में लिखा गया। यह फारसी की नस्ख लिपि में है और इसकी लिखावट माण्डू से ही प्राप्त सादी के बोस्तानी नामक ग्रंथ से काफी मिलती-जुलती है। इसमें ईरानी चित्रों जैसे प्राकृतिक और उद्घानों के हृष्य बनाए गए हैं। नक्काशी का महीन काम किया गया है (चित्र ६-७)। इन्हों के डिजाइन बनाए गए हैं। नस्खी लिपि का अलंकरण के हृष्टिकोरण से प्रयोग हुआ है।

राष्ट्रीय संभ्रहालय, नई दिल्ली में शेख सादी के 'बोस्तानी' की एक सुन्दर चित्रित प्रति सुरक्षित है। यह माण्डू के सुल्तान नासिर शाह खिलजी (१५०१-१२ ई०) के समय की है। इसमें ४३ चित्र हैं जिनमें

विभिन्न कलाकारों ने काम किया है। इन सभी चित्रों पर ईरान के विस्थात चित्रकार और हिरात शैली के जन्मदाता विहजाद की कला की छाप है। इमारतों और प्राकृतिक घट्यों के चित्रण और नक्काशी जैसे अलंकरण में यह प्रभाव स्पष्ट होता है। ईरानी चित्रकला में, जैसे चीनी बादल दिखाए जाते थे, वैसे इनमें है (चित्र-८)। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि इन चित्रों में भारतीय प्रभाव बहुत कम है। चेहरों पर अभिव्यक्ति का भी प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से चित्रकार ईरान से भागकर भारत आए और उन्हें माण्डू के दरबार में शरण मिली जहाँ उन्होंने इन चित्रित घट्यों की रचना की। यह सम्भव हो सकता है क्योंकि १५०७ई. में शैवानी खां उज़बेक ने हिरात पर अधिकार कर लिया था और आसपास के प्रदेश में मारकाट मचादी थी। यह शैवानी खां वही है जिससे बाबर जैसा शेर दिल भी डरता था और जिसने बाबर जैसे दुड़प्रतिज्ञ और साहसी व्यक्ति को भी मध्य एशिया से बाहर खदेड़ दिया था।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में ईरानी प्रभाव मुग़लों से पहले आ चुका था। विशेष रूप से गुजरात, राजस्थान और मालवा आदि प्रदेशों में चित्रित घट्यों में यह प्रभाव धीरे-धीरे १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जमता जा रहा था। इन प्राचीन कलाकारों और उनकी शैलियों का नवोदित मुग़ल चित्रकला पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

पाल-शैली

वैसे कश्मीर में भी एक चित्र-शैली प्रचलित थी जिसके महत्वपूर्ण उल्लेख मध्यकालीन साहित्य में मिलते हैं। किन्तु इस शैली के अन्तर्गत रचित चित्र अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। कश्मीर निःसंदेह चित्रकला का एक अत्यन्त प्राचीन केन्द्र था। अतः इस प्रदेश में धीरे-धीरे अपनी एक विशिष्ट शैली का विकसित हो जाना स्वाभाविक था जो मूल से भिन्न तो नहीं रही होगी किन्तु जिसमें प्रादेशिक विशेषताएँ अवश्य होंगी। अकबर के चित्रकारों में अनेकों कश्मीरी चित्रकारों का उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि यहाँ निरन्तर चित्रकला का विकास

होता रहा और चित्रकार आश्रय पाते रहे। किन्तु चित्रों के अभाव में शैली के विशिष्ट तत्वों का विवेचन संभव नहीं हुआ है।

चित्रकला की एक अन्य शैली विहार, बंगाल और नेपाल में मध्यकाल में प्रचलित थी। पाल राजाओं के संरक्षण में पलने के कारण इसे पाल-शैली का नाम दिया गया है। यह शैली अजन्ता की परम्परा से ही निकली और अपञ्चन के विपरीत इसमें थोड़ा बहुत मूल लालित्य बना ही रहा। इस शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ ११वीं शताब्दी के आरंभ से मिलती हैं। अधिकांशतः ये बुद्धरूप संबंधी "अष्ट साहस्रिक प्रजापारमिता" की पोथियाँ हैं। यह महायान के अनुसार आठ हजार पंक्तियों का ग्रन्थ था जिसमें बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए ज्ञान की बातें कही गई थीं। स्पष्टतः ही इन दार्शनिक विषयों के चित्र नहीं बनाए जा सकते थे और इन पोथियों में बने चित्रों का ग्रन्थ के विषयों से कोई संबंध नहीं था। थोड़ा बहुत साम्य बनाए रखने के लिए इनमें महायान बौद्ध देवी-देवताओं के, बुद्ध के जीवन संबंधी और बौद्ध तीर्थ-स्थलों के चित्र बनाए गए हैं। कालान्तर में प्रजापारमिता और तारातान्त्रिक आदि देवियों और मंजुश्री आदि देवताओं के चित्र बनने लगे।

इस शैली की सबसे प्राचीन प्रति १८० ई० की है। कुछ नेपाल में बनी प्रतियाँ मिली हैं। १०१५ ई० की एक प्रति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐसी कृतियाँ चित्रार और बंगाल में १३वीं शताब्दी के बाद नहीं मिलतीं और परवर्ती चित्रित ग्रन्थों में अपञ्चन का प्रभाव अधिक हो जाता है। किन्तु नेपाल में यह शैली इसके बाद भी जीवित रहती है। वहाँ पोथियाँ ही नहीं पट-चित्र भी इस शैली में बनते थे। १५वीं शताब्दी के बाद वहाँ भी इनका प्रचलन घट गया। तिब्बत में इसके बाद भी इस शैली का काफी प्रभाव रहा।

पाल-शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रों में हैं। लम्बे-लम्बे तालपत्र के एक से दुकड़े काटकर उनके बीच में चित्र के लिए स्थान छोड़कर दोनों ओर ग्रन्थ लिख दिया जाता था। नागरी-लिपि में बड़े सुन्दर अक्षरों में यह लिखाई की जाती थी। बीच के खाली स्थान में सुरचिपूरण रंगों में चित्र

बनाए जाते थे। सुन्दर और सुडौल आकृतियाँ बनाई जाती थीं जिनमें बड़े आकर्षक ढंग से आँखों और अन्य ग्रंथ-प्रत्यंगों का आलेखन होता था। ये चित्र बड़े सजीव हैं और अजन्ता की कला का स्मरण करते हैं। तत्कालीन अपभ्रंश के चित्रों से ये कहीं उत्कृष्ट हैं। एक ही परम्परा की दो विकासधाराओं के इस स्पष्ट अन्तर पर कुछ आकर्षण्य होता है। आगे चलकर पाल-शैली का पतन हो जाता है, किन्तु अपभ्रंश-शैली, ईरानी-शैली से प्रेरणा लेकर अपना कलेक्टर बदल लेती है और परिणामस्वरूप राजस्थानी-शैली का जन्म होता है।

कला-संरक्षण

कामशास्त्र संबंधी कुछ कृतियों को छोड़कर लगभग ये सभी चित्रित ग्रन्थ धार्मिक होते थे। इनमें या तो जैन विषय होते थे, जैसे अपभ्रंश-शैली में या बीढ़ विषय जैसे पाल-शैली में। शर्मी लौकिक कला का विकास नहीं हुआ था। पाल राजाओं ने चित्रकला को कुछ संरक्षण दिया किन्तु अधिकांशतः यह मेठ लोगों की धार्मिक भावना से प्रेरणा लेती रही।

गुजरात में तो चित्रित ग्रन्थों की अपभ्रंश परम्परा को लगभग सम्पूर्ण संरक्षण धनाद्य जैन लोगों ने ही दिया। वैसे प्राचीन राजाओं के चित्रकला को प्रोत्साहन देने के उल्लेख मिलते हैं। जौनपुर और मालवा के शासक चित्रकारों को अपने यहाँ नियुक्त करते थे, किन्तु दिल्ली के सुल्तानों ने इस दिशा में शायद कभी कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। हसन निजामी, मीन्हाज या जियाउद्दीन बर्नी इस संबंध में मौन हैं। फिरोज़ तुगलक का इतिहासकार अफीफ़ कुछ और ही लिखता है। वह कहता है कि सुल्तान ने आवास के महलों में जीवधारियों के चित्र बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और पहले बने हुए ऐसे चित्रों पर सफेदी पुतवा दी। उसकी धारणा थी कि यह धर्मविरुद्ध है। उसने आदेश दिया कि केवल उचानों के हथ्य ही बनाए जाने चाहिए। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत चित्रकला को संरक्षण देने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मध्यकाल में सबसे पहले अकबर ने ही चित्रकला के क्षेत्र में नए युग का सूत्रपात किया।

राजस्थानी-शैली

मध्यकालीन भारत में १५वीं शताब्दी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। संगीत, वास्तु, धर्म, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में नवजीवन की लहर दीह गई थी और बहुमुखी उल्लति आरंभ हो गई थी। चित्रकला में भी नवजागरण का युग १५वीं शताब्दी से ही प्रारंभ हुआ। इरानी प्रेरणाएँ के संसर्ग से भारतीय कलाकारों को अपनी कला को परिमार्जित और परिष्कृत करने का अवसर मिला और चित्रपटी लकड़ीरी का पथ त्यागकर कला नए-नए प्रयोगों को दिशा में चल निकली। अपभ्रंश की परम्परा में समयानुकूल परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक नयी शैली का विकास हुआ जिसे राजस्थानी या राजपूत-शैली कहते हैं।

वैष्णवबाद का उदय इस दिशा में क्रान्तिकारी चरण सिढ़ हुआ। इसने तान्त्रिकों की योग-क्रियाओं और दार्शनिकों की रहस्यमय विद्याओं के स्थान पर राधा और कृष्ण के भक्तिमय प्रेम की परम्परा स्थापित की और भक्ति को ही मोक्ष का साधन बताया। सहज सम्प्रदाय के चण्डीदास (१४वीं शताब्दी) ने रसभीने प्रेम को अधिक महत्व दिया। १५वीं शताब्दी में भैयिल कवि विद्यापति ने भी यही रीति अपनाई। इनसे पहले भी १२वीं शताब्दी में बंगल के लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि जयदेव ने 'गीत-नोविन्द' में और चित्रकला ने 'बालगोपाल-स्तुति' में यही बात सी थी। १०वीं

शताब्दी के भागवत-पुराण में भी कृष्ण और ब्रज की गोपिकाओं के प्रेम की चर्चा है। यह कृष्ण प्रेम-गाथा वैष्णवबाद की आधारशिला बन गया। बल्लभाचार्य ने राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम को ही १६वीं शताब्दी में भक्ति के रूप में स्थापित किया।

इस नए ट्रिप्टिकोण ने धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, कला के क्षेत्र में भी उथल-पुथल मचा दी। अबतक परम्परागत धार्मिक चित्र बनाए जाते थे जो झड़ियों से जकड़े हुए थे। कला इन कठिन बन्धनों से मुक्त होने के लिए कई शताब्दियों से तड़प रही थी। कलाकार जितनी स्वच्छता से अपने हृदय की सुन्दर-सुन्दर, कोमल अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है उसका कोई साधन उसे अपभ्रंश के युग में नहीं मिलता था। वैष्णवबाद के प्रचार के साथ-साथ भक्ति और प्रेम की धाराएँ जनजीवन में प्रमुख हो गई। वैष्णवों की भक्ति और प्रेम की इन भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए चित्रकला के सिद्धातों और विषयों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कृष्ण-भक्ति विषयक चित्र बनाने की एक नई परिपाटी चल पड़ी। प्रेम और भक्ति के माध्यम से अब चित्रकला में लोकिक विषयों का भी चित्रण सम्भव हो गया और इससे चित्रकला की बहुमुखी प्रगति के द्वारा खुल गए। १४५१ ई० में अहमदाबाद में रचित 'वसन्त-विलास' में सबसे पहली बार इस

दिशा में एक ठोस प्रवल्त किया गया। यहाँ चित्र-कला प्राचीन धार्मिक रुद्धियों त्याग कर खुली हवा में आ जाती है और उसके लौकिक पक्ष के विकास का भारी खुल जाता है। बसन्त-विलास में प्रेम और बसन्त के सौन्दर्य का मुक्त चित्रण किया गया है।

इस प्रकार एक नई धारा का जन्म हुआ जिसमें न केवल वैष्णव विषयों का ही चित्रण होता था बरन् सर्वथा लौकिक विषय भी बनाए जाते थे। 'बसन्त-विलास' के अतिरिक्त विलहरा की 'चौर-पंचाशिका' और अन्य भूत्यों में धार्मिक शंख विलकुल नहीं हैं। यह उल्लेखनीय है कि मूलता दाउद की 'लौर चन्दा' और १५०६ में लिखी गई 'भूगवती' आदि ग्रन्थों की चित्रित प्रतियों के विषय भी लौकिक हैं। यों हन चित्रों को दो भागों में बांटा जा सकता है—भक्ति-चित्र-जिनमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी वैष्णव विषयों का चित्रण होता था और रीति चित्र-जिनमें सर्वथा लौकिक विषय बनाए जाते थे। रीति-चित्र वास्तव में हिन्दी के रीति काव्य वर्णनों को मनोरम अनुकृति है। इनमें नायक-नायिका-भेद प्रमुख हैं। १६वीं शताब्दी के देशी चित्रकार इस प्रकार दो प्रकार के काव्यों के चित्र बनाते थे। एक भक्ति विषयों से सम्बन्धित और दूसरे नायक-नायिका भेद विषयों पर। इससे पूर्व के संस्कृत ग्रन्थ, जैसे, अमरूल्लशक्ति, गीत-गोविन्द और रसमंजरी आदि का भी चित्रण अब नायक-नायिका-भेद चित्रों के अन्तर्गत किया गया। तत्कालीन धार्मिक भावना ने काव्य को और काव्य ने चित्र-कला को इस प्रकार मूल रूप से प्रभावित किया। काव्य और चित्रकला का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योंकि दोनों ही मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होते हैं।

✓ केशवदास ने १५४८ में रसिक-प्रिया और १६०१ में कविप्रिया की रचना की। रसिकप्रिया में नायक-नायिका भेद वर्णन है। चित्रकारों ने रसिकप्रिया के बड़े व्यापक पैमाने पर चित्र बनाए और चित्र-क्षेत्र में यह ग्रन्थ बड़ा प्रचलित हुआ (चित्र ८ और १०)। इसी प्रकार कविप्रिया जो रीतिकाव्य का एक महान् ग्रन्थ है, चित्रकारों के लिए भी एक अद्भुत प्रेरणा ज्ञोत बन गया। केशव की रसिकप्रिया

और कविप्रिया की शैली पर ब्रजभाषा में काव्य रचना होने लगी और चित्रकारों ने उन विषयों पर चित्र बनाने की एक परम्परा ही चला दी।

केशव ने काव्य में दो परिस्थितियों को जन्म दिया। उन्होंने सोलह शृंगार एवं स्त्री अलंकरण के सोलह शृंगारों का वर्णन किया। चित्रकार इन सोलह शृंगारों को छान में रखता था जिससे वह अपने चित्रों में स्त्रियों का अकन शास्त्रोक्त एवं श्रेष्ठतम विधि से कर सके। दूसरे, केशव ने बारह-मासा-क्रतुओं के गोतों का प्रारंभ किया। ये लौकिक गीत बड़े प्रचलित हुए। ब्रजभाषा-काव्य के बारह-मासा विषयों ने देशी चित्रकारों को शात्यधिक आकर्षित किया। उन्होंने प्रेम भावना को नवीन दृग से व्यक्त करने का माध्यम पा लिया। संगीत की प्रगति के साथ-साथ रामाला के चित्र बनाए जाने लगे। यह विलक्षण बात है कि कलाकारों ने संगीत जैसी अहश्य-कला के सिद्धान्तों को चित्रकला जैसी दृश्य-कला द्वारा प्रत्युत करने का प्रयत्न किया।

१६वीं शताब्दी में इस परिवर्तन ने चित्रकला का रूप ही बदल दिया। वैष्णव चित्रों में अब जीवन का उल्लास और स्फूर्ति मिलती थी। उनमें अब रंगों का बोध ही नहीं, सौन्दर्यानुभूति भी होती थी। सुर-तुलसी के बालसल्य बरांग में जो लालित्य है वही बालकृष्ण की लीलाओं में रंगों द्वारा अंकित किया गया है। धीरे-धीरे यह शैली अपन्यास शैली को आत्मसात् कर लेती है। भारतीय लोक-चित्र-शैली भूलतः राजस्थानी-शैली रह जाती है और स्वतन्त्र रूप से विकासित होती रहती है।

'बालगोपाल-स्तुति' की प्रतियों में यह परिवर्तन स्पष्ट हैँगोचर होता है (चित्र-११)। अंग-विन्यास, वेषभूषा, प्रकृति-चित्रण आदि सभी विधान और आलेखन अपन्यास-शैली से भिन्न हैं और एक नवीन विकास की ओर इगत करते हैं। जहाँ अपन्यास के चित्र इकहरे कामज़ूज पर बने ग्रन्थ-चित्र हैं। राजस्थानी-शैली के अन्तर्गत मोटी वसलियों का प्रयोग किया गया है। अपन्यास की अघर में लटकी हुई परली आंख अस्वाभाविक और बुरी लगती थी। राजस्थानी-शैली में उसका प्रयोग नहीं हुआ है और

चेहरे एक चश्म है। दोनों शैलियों में रंगों का भी अत्यन्त है। अपञ्चंश में लाल-पीले और लाजवर्दी रंगों का अत्यन्त बाहुल्य से उपयोग होता था, राजस्थानी में अन्य चट्टकोले रंगों का भी प्रयोग किया गया है और इस शैली के चित्रों में लाल-पीले रंग प्रभावग्राली नहीं रह गए हैं। स्पष्टतः ये परिवर्तन शैली के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण चरण हैं।

यह कानिंतकारी परिवर्तन राजस्थान, गुजरात और उनके समीपवर्ती प्रदेशों में हुए, जो अपञ्चंश-शैली के गढ़ थे और जहाँ वडे-वडे कलाकार चित्रित ग्रन्थों की रचना में सलमन रहते थे। दिल्ली सल्तनत का प्रभाव भी इन्हीं प्रदेशों पर सबसे पहले और सबसे व्यापक हुआ। इस लाभकारी परिवर्तन का श्रेष्ठ भारतीय कलाकार के उदार हृषिकोण को है। बाहर से आने वाली प्रेरणाओं को वह विदेशी कहकर तुकराता नहीं अपितु अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनमें सुधार करके मुस्कराहट के साथ उन्हें स्वीकार करता है। इस विषय में उस पर कोई आधिक अंकुश नहीं है और वह अपनी कला का अपना और अपने सरबक की रुचियों के अनुकूल विकास करने के लिए स्वतन्त्र है। यास्त्रीय मानदण्डों को अवश्य वह ध्यान में रखता है किन्तु यास्त्रीय विधि-विद्वान् सूक्ष्म से सूक्ष्म वातों की विवेचना करके भी नई प्रेरणाओं को अंगीकार करने और कला का समयानुकूल विकास करने की उसको स्वतन्त्रता में हस्तीपन नहीं करते। भारतीय कला इसीलिए प्राचीन लूहियों पर आधारित होते हुए भी निरन्तर चेतन और विकासशील हैं।

राजस्थानी चित्रकला में इरानी प्रेरणा के समाविष्ट होने के अतिरिक्त नए-नए तत्त्व थे। वह कला हृदिगत आधिक परम्पराओं से मुक्त है और इसमें वैष्णव भक्ति विषयक चित्रों के अतिरिक्त लौकिक विषय स्वच्छन्द रूप से अदर्शित किए गए हैं। यह कला मध्यकालीन साहित्य का प्रतिविम्ब है और तत्कालीन धर्म, समाज और कला-अेत्र में व्याप्त इवृत्तियों के रंगों के माध्यम से परिचय करती है। इसकी विचारधारा और हृषिकोण

दोनों ही अपञ्चंश या उससे पहले की किसी भी चित्रकला से भिन्न है। मुगल चित्रकला जिसमें लगभग पूर्णतया लौकिक विषयों का चित्रण हुआ है, राजस्थानी-शैली की इसी विचारधारा और हृषिकोण से प्रेरित है। मध्यकालीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान और सम्मिलित संस्कृति के विकास में भारतीय चित्रकला का यह परिवर्तन एक महत्वपूर्ण सहयोग देता है।

राजस्थानी-शैली के चित्र महापुराण नामक एक दिगम्बर जैन ग्रन्थ को १५४७ ई० की प्रति में भी मिले हैं। इसमें लगभग ४५० चित्र हैं। ऐसे ही चित्र कुतुबन की मृगावती नामक अवधी काव्य की प्रति में हैं। तत्कालीन अन्य चित्रित ग्रन्थों में भी मुगल शैली के पूर्व लक्षण मिलते हैं। 'चौर पंचाजिका' के चित्र उत्तम कोटि के हैं (चित्र-१२)। मनोदण्डाओं को विभिन्न उपादानों द्वारा कलाकार ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'गीत-गोविन्द' की एक घटि में उत्कृष्ट प्रकृति-चित्रण किया गया है (चित्र-१३)। इस काल के चित्रों में अपञ्चंश की जड़ और बेड़ी आकृतियाँ नहीं हैं अपितु वे गतिमय, सुरुचिपूर्ण और उल्लासमय हैं।

भारतीय कला के प्रथ्यात् विद्वान् शानन्द-कुमारास्त्रामी इस शैली को राजपूत-शैली का नाम देते हैं। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १८वीं शताब्दी के मध्य तक प्रचलित इस शैली के चित्रों को उन्होंने राजस्थानी और पहाड़ी दो वर्गों में बांटा है। वह राजस्थानी का देवत राजपूताना और बुन्देलखण्ड मानते हैं। पहाड़ी देवत में जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल आदि पंजाब और हिमालय के प्रदेश हैं। प्रथ्येक वर्ग की फिर विभिन्न शाखाएँ बन जाती हैं जो देशी राजाओं के संरक्षण में विकसित होती रहती हैं। राजस्थान में मेवाड़, जोधपुर, बीकानेर और बुन्दी राजस्थानी-शैली को प्रमुख शाखाएँ हैं। बुन्देलखण्ड में औरछा और दिलिया दो बड़े केन्द्र स्थापित हो जाते हैं। इन कलमों में गीति-चित्रों विशेषकर रागमाला चित्रों का बाहुल्य रहता है। पहाड़ी-शैलियों का विकास कुछ बाद में अधिकांशतः मुगल परम्परा के हाथों हुआ।

मुग्ल चित्र-कला

तैमूरजिन ने, जो इतिहास में चंगेज खाँ के नाम से विख्यात है, १२२० ई० में समरकन्द और रायपर अधिकार कर लिया। इससे ईरान और चीन के मध्य सम्पर्क स्थापित हो गया तथा संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में आवान-प्रदान होने लगा। चीन के सभ्राट कुबला खाँ के छोटे भाई हलाकूने १२६८ में बगादाद में लूटमार की और खलीफा को हत्या कर दी। ये सारे प्रदेश इलखानों के अधिकार में आ गए। १२६५ में इलखान गजन ने इस्लाम घर्म स्वीकार कर लिया। यहाँ से ईरान में एक नए कलात्मक युग का सूत्रपात हुआ। इलखानों के यहाँ साम्राज्य के प्रत्येक भाग से कलाकार आकर रहते थे किन्तु चीनी कलाकारों को उनके यहाँ विदेष संरक्षण मिलता था। उनका ईरानी कलाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा। १५वीं शताब्दी के मध्य से ईरानी चित्रकला पर चीनी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तैमूरलंग के अभियानों के फलस्वरूप ईरान और चीन के मध्य सांस्कृतिक विनियम की पुनरावृत्ति हुई। उसने राज्य-विस्तार ही नहीं किया बल्कि ललित कलाओं को भी ग्रोल्साहन दिया। उसके और उसके वंशजों के संरक्षण में समरकन्द और हिरात में ग्रन्थ-चित्रकला का विकास हुआ।

चीनी चित्रकला के तत्त्व धीरे-धीरे धुलमिल कर ईरानी कला के अंग बन गए। ईरानी चित्रकला ने इस प्रकार मूल प्रेरणा चीनी कला से ली।

तैमूर का पुनर्जाहरत बड़ा कलान्प्रेसी था और उसके दरबार में बड़े-बड़े कलाविद संरक्षण पाते थे। धीरे-धीरे उसकी राजधानी हिरात में निश्चित-कला वी एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे हिरात-शैली कहते हैं। १५वीं शताब्दी के उत्तरांच में विहजाद ईस शैली का सबसे बड़ा चित्रकार हुआ। वह पहले हिरात में ही तैमूर के बणज हुसैन मिर्जा के दरबार में रहता था। किर वह सफावी बंश के प्रथम सभ्राट शाह इस्माइल के यहाँ तब्बेज में रहने लगा। विहजाद ने बड़ी स्थापित पाई और धीरे-धीरे वह ईरान का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माना जाने लगा।

रेखाओं में कोण, चित्रों में गति और आलंकारिकता ईरानी-शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं। उसमें अलंकरण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है और चित्र लगभग नवकाशी का एक उत्कृष्ट नमूना लगता है। इसमें सूक्ष्म चित्रण और कोमलता होती है। मुखाकृतियों और प्राकृतिक दृश्यों में चीनी प्रभाव रहता है।

भारत में मुग्ल बंश का संस्थापक बाबर मध्य एशिया का रहने वाला था। उसका ईरान से

अकबर सम्पर्क रहता था और वह वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधियों में परिचित था। यद्यपि वह स्वयं चित्रकार नहीं था और न ही उसके दरबार में चित्रकारों के इहने का उल्लेख मिलता है फिर भी चित्रकला से उसे बड़ा प्रेम था। उसने अपनी आत्मकथा में ईरान के विरुद्धात् कलाविद् विहजाद के चित्रों की अत्यन्त मार्मिक समीक्षा की है जिससे वह अनुमान होता है कि वह तत्कालीन चित्र-शैलियों और चित्रकला की प्रवृत्तियों से भलीभांति अवगत था।

उसके पुत्र हुमायूँ का जीवन भी उसकी तरह ही कठिन संघर्षों में बीता, किन्तु हुमायूँ युद्धों के बीच में कुछ न कुछ समय कला और संस्कृति के लिए अवश्य निकाल लेता था। ईरान में अपने प्रवासकाल में उसने वहाँ की चित्रकला और उसकी परम्पराओं का अध्ययन किया और वहाँ से वह दो निपुण कलाकार छवाजा अब्दुस्समद और मोर संयुद्ध अली को अपने साथ भारत लेता आया, किन्तु यहाँ लौटते ही उसकी मृत्यु हो गई और किसी नवीन चित्र-शैली को वह जन्म नहीं दे सका। इस कार्य का शेष उसके पुत्र अकबर को मिलता है।

१५५६ ई० में अकबर का गढ़ी पर चैठना सर्वेचा नवीन युग के समारम्भ का सूचक है। अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला-प्रेमी था। वह धार्मिक कटूरता से मुक्त था। उसने हिन्दुओं पर जजिया आदि कर समाप्त कर दिए। उन्हें सम्पूर्ण धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता दी और उनके लिए सरकारी नोकरियों के द्वारा लोन दिए। देश की संस्कृति और कलाओं से अवतक अधिकांश सुलान विमुख रहते थे, अकबर ने इन कलाओं को अपनाकर एक नवीन युग का सूचिपात किया। उसकी इस उदार नीति ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग उन्मुक्त कर दिया।

स्थापत्य और संगीत के समान अकबर को चित्रकला में भी बड़ी रुचि थी। उसने गुजरात, राजस्थान, कश्मीर आदि प्रान्तों से देशी चित्रकार बुलाए और ईरान के इन दोनों उस्तादों छवाजा अब्दुस्समद और मोर संयुद्ध अली के निदेशन में

उन्हें चित्र-गाथना में लगा दिया। अपनें या राजस्थानी परंपरा में दीक्षित ये भारतीय कलाकार धीरे-धीरे ईरानी कलाघारा में प्रशिक्षित हुए। उन्होंने रेखा और रंग दोनों में कमाल प्राप्त कर लिया और ईरानी चित्र-विधि में पारंगत हो गए। उनके हाथों एक नवीन शैली का जन्म हुआ जिसे मुग़ल चित्रकला कहते हैं। इसमें प्रारंभ में ईरानी प्रभाव व्याप्त था, धीरे-धीरे ईरानी अलंकरण का स्थान भारतीय यथार्थवाद ने ले लिया। रंगों के विधान में भी भारतीयकरण किया गया। भारतीय विषय, वेषभूषा, प्रकृति और वातावरण मुक्तहस्त से दिखाए जाने लगे। ईरानी-कला से प्रेरित यह शैली धीरे-धीरे विशुद्ध भारतीय कला बन गई।

सज्जाट के चित्रकला प्रेम के समन्वय में दरबारी इतिहासकार अबुलफज्ल ने आईन-ए-अकबरी में बड़े रोचक उद्धरण दिए हैं। वे लिखते हैं :—

“किसी वस्तु के सहज अंकन करना तस्वीर कहलाता है। सज्जाट को बचपन से ही चित्र-कला में बड़ी रुचि है। वे इसे बड़ा प्रोत्साहन देते हैं क्योंकि यह अध्ययन और आमोद दोनों का ही उत्तम लाभन है। उनकी अवलोक्या में चित्रकला ने बड़ी प्रगति की है और उनके बहुत से चित्रकार बड़े प्रसिद्ध हो गए हैं। सभी कलाकारों के चित्र हर सप्ताह दरोगाओं और लिपिकों के द्वारा सज्जाट के सामने रखे जाते हैं। सज्जाट चित्रों की कलात्मकता के मनुकूल इनाम देते हैं या मासिक वेतन बड़ा देते हैं। कलाकारों के प्रयोग की सामग्री में बड़ी उत्तिहासिकता है और उनके दाम निश्चित कर दिए गए हैं। रंगों के मिश्रण में विशेष सुधार किया गया है। चित्रों का अभूत-पूर्व अंकन हुआ है। अत्यन्त निपुण चित्रकार अब मुग़ल दरबार में रहते हैं और अत्यन्त सुन्दर चित्रों की जो विहजाद के चित्रों से कम नहीं हैं उन्हाँना होती है। इनकी तुलना विष्व-प्रसिद्ध यूरोप के चित्रकारों के अद्भुत चित्रों से की जा सकती है। इन चित्रों की सूक्ष्मता, अंकन और सिद्धहस्त कलात्मकता का कोई

मुकाबला नहीं है। निर्जीव विषय भी जीवित से प्रतीत होते हैं। सौ से अधिक चित्रकार इस कला के उस्ताद हो गए हैं। प्रगतिशील कलाकारों की संख्या भी बहुत काफी है। हिन्दू कलाकारों की संख्या बहुत अधिक है। उनके चित्र इतने सुन्दर बनते हैं कि विश्वास नहीं होता। संसार में केवल कुछ व्यक्ति ही उनका मुकाबला कर सकते हैं। मैं चित्रकला के पथ पर अप्रसर चोटी के कुछ कलाकारों के नाम देता हूँ—

- (१) तबरेज के भीर संघर्ष अली-इन्होंने इस कला की शिक्षा अपने पिता से ली। जब से वे दरवार में आए सभाद की उन पर कृपा बनी रही। इन्होंने इस क्षेत्र में बड़ी व्यक्ति प्राप्ति की है और वह मफल हुए है।
- (२) ख्वाजा अब्दुस्समद-जिन्हें शीरी कलम कहा जाता है। ये शीराज के रहने वाले हैं। यद्यपि ये दरवार में आने से पहले भी कलाकार थे तथापि इनकी कला में उत्कृष्टता दरवार में आने के बाद ही आई है। इसका कारण सभाद की कृपाहृष्टि है जिसके प्रभाव से कला बाह्यकार में केन्द्रित न रहकर अनुभूतिपूर्ण हो जाती है। ख्वाजा के शिष्य भी उनके सरकार में उस्ताद हो गए हैं।
- (३) दसवन्त—जाति के कहार हैं। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस कला को समर्पित कर दिया है। इन्हें चित्रकला से इतना प्रेम था कि वे दीवारों पर चित्र बनाया करते थे। एक दिन उन पर सभाद की दृष्टि पड़ गई। उन्होंने उनकी प्रतिभा को पहचान लिया और उन्हें ख्वाजा अब्दुस्समद के सुपुद्द कर दिया। थोड़े समय में ही वे अन्य कलाकारों से आगे निकल गए और युग के प्रथम उस्ताद बन गए। दुर्भाग्य से वे पागल हो गए और उन्होंने आत्महत्या कर ली। उनकी बहुत सी उत्कृष्ट कृतियां शेष हैं।
- (४) बसावन—पृष्ठभूमि बनाने में, अंगप्रत्ययों के चित्रण में, रंग विवान में, व्यक्ति-चित्र (शब्दीह-Portrait) चित्रण में और इस कला के अन्य

पक्षों में वे सबसे अधिक निपुण हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग उन्हें दसवन्त से भी उत्तम समझते हैं।

निम्नलिखित चित्रकार भी प्रसिद्ध हैं—केसु, लाल, मुकुम्द, मुश्की, फाल्स (कलमाक), मधु, जगन, महेश, वेमकरण, तारा, सौवला, हरवंस, राम—इनमें से प्रत्येक की कला की उपलब्धियों का वरणन करना सम्भव नहीं है। मेरा ध्येय बाटिका में से एक फूल चुन लेना है, अनाज के गढ़र में से एक बाल निकाल लेना है।

जीवधारियों के चित्र और अनुकृतियां बनाने को कुछ लोग वेकार का धन्धा समझते हैं। ऐसा नहीं है। सुलभे दुए व्यक्तियों के लिए यह बुद्धि प्राप्त करने और अज्ञान के विष को दूर करने का साधन है। इस्लाम के कट्टर समर्थक चित्रकला के विरोधी हैं किन्तु वे अब सत्य का अनुभव करते हैं। एक दिन सभाद मित्रों को एक निजी सभा में बैठे थे। तब उन्होंने कहा—“बहुत से लोग चित्रकला से घृणा करते हैं। मुझे ऐसे लोग पसन्द नहीं हैं। मेरी राय में चित्रकार के पास ईश्वर से साधात्कार करने के विचित्र साधन हैं क्योंकि जब चित्रकार किसी जीव का चित्र बनाता है तब एक के बाद एक अंग को बनाते समय उसे यह अनुभव होता है कि वह अपनी कृति को बैसा व्यक्तित्व नहीं दे सकता। और इस प्रकार वह ईश्वर के विषय में सोचने के लिए बाध्य हो जाता है क्योंकि ईश्वर ही जीवनदाता है। और मनुष्य उसकी नकल नहीं कर सकता। इस प्रकार चित्रकार का ज्ञान बढ़ता है।”

उत्कृष्ट कलाकृतियों की संख्या कला को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ बढ़ती गई। फारसी के सब और पश्च दोनों प्रकार के ग्रन्थों को चित्रित किया गया और इस प्रकार बहुत से चित्र बने। हमजा की कथा को बारह जिल्डों में चित्रित किया गया और कुशल कलाकारोंने इस कहानी के १४०० सुन्दर चित्र बनाए। चर्गज नामा, ज़फर नामा, यह किताब (आइन-ए-ग्रकबरी), रजम नामा (महाभारत), रामायण, नलदमन (नल दमयन्ती), कलीला-दमना (गंवतंत्र), अवारदानिश आदि ग्रन्थों को बड़े मुश्लचिपूरण डंग से चित्रित किया गया।

संग्राह स्वयं अपना व्यक्ति-चित्र (शबोह) बनवाने के लिए बैठे और उन्होंने हृक्षम दिया कि सामाज्य के सभी सरदारों (उमरा, मनसबदार) को शबोह बनाइ जाए । एक बड़ी विशाल एलबम (पोथी) इस प्रकार बन गई । जिनका देहान्त हो गया है वे इन चित्रों के माध्यम से पुनर्जीवित हो गए हैं और जो अभी जीवित हैं वे अमर हो गए हैं ।

जैसे चित्रकारों को संरक्षण मिलता है वैसे ही अलंकरण करने के लिए विशेष कलाकारों, प्रभाकारों (Gilders), रखाकारों (Line-drawers) और पृष्ठकारों (Pagors) की नियुक्ति की जाती है । इस विभाग में चटुत से मनसबदार, अहंदी और सिपाही रहते हैं । पायकों का वेतन ६०० दाम से १२०० दाम तक होता है ।

इसमें स्मरण रखने की बात यही है कि ईरान के दो बड़े उस्तादों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सेयदइम्गली के अतिरिक्त प्रकवर के अधिकांश चित्रकार भारतीय हैं जो प्रारंभ में अपअंग या राजस्थानी परमारों में प्रशिक्षित हुए । ईरानी उस्तादों के निर्देशन में उनके हाथों ईरानी और भारतीय कला के सम्मिश्रण के फलस्वरूप एक नवीन पैली का समारम्भ हुआ जिसे मुगल-चित्रकला कहते हैं ।

अकबर कालीन चित्रकला को चार भागों में बांटा जा सकता है ।

- (१) चित्रपट (Rolls)
- (२) ग्रन्थचित्र (Miniatures)
- (३) व्यक्तिचित्र (Portraits)
- (४) भित्तिचित्र (Frescoes)

हमजानामा के चित्र चित्रपट की श्रेणी में आते हैं । ये सब दो फुट लम्बे और लगभग २ फुट चौड़े हैं और भूती कपड़े पर भारतीय चित्रपटों की परंपरा में ही बनाए गए हैं । हमजानामा अकबर के युग की सबसे पहली कृति है । इसका रचनाकाल १५६७ से १५८२ ई० के मध्य प्रतीत होता है । इसके चित्रों में ईरान की हिरात-गंडी का प्रभाव मिलता है फिर भी इनमें अपना एक निश्चित ही भारतीय कलाकारों के हाथों आया है । वेषभूषा और पहनावा भारतीय है । ये चित्र ईरानी कला-कृतियों

की तरह आलंकारिक नहीं हैं वरन् घटना-प्रधान हैं । आकृतियाँ गतिमान और भावपूर्ण हैं (चित्र-१४) । प्रकृति-चित्रण में भारतीय कलफूल जैसे—केले, बट, पोपल, आम और पशु-पक्षी जैसे हाथी, मोर आदि दिखाए गए हैं । भारतीय देवी-देवताओं की छवियाँ भी मिलती हैं ।

ग्रन्थ-चित्रों की श्रेणी में भारतीय कथाएँ और ऐतिहासिक प्रस्त्र दोनों ही आते हैं । अकबर ने महाभारत का फारसी में अनुवाद कराया । इसकी एक प्रति को १५८८ में तीन जिल्दों में चित्रित किया गया (चित्र-१५) । रामायण के अनुवाद को भी चित्रित किया गया । पंचतंत्र के अनुवाद अनवार-ए-सुहैली की एक प्रति को भी १६०४ में चित्रित करना प्रारम्भ किया गया । अबुलफज्ल ने पंचतंत्र का अनुवाद सीधे संस्कृत से फारसी में १५८८ में किया । इसका नाम अयार दानिश रखा गया । इसकी भी चित्रित प्रतियाँ बनाई गईं ।

ऐतिहासिक प्रस्त्रों में तारीखे खानदाने तंमुखिया की प्रति को सबसे पहले चित्रित किया गया । बावरनामे का तुकी से फारसी में अबुरहीम खान-खाना ने अनुवाद किया और १५८६ में इसकी एक चित्रित प्रति अकबर को भेट की गई (चित्र-१६) । अकबरनामा १६०२ में अबुल फज्ल अधूरा छोड़ गए । इसको पहली चित्रित प्रति पर १६०६ का जहांगीर का नेतृत्व है । इसके अतिरिक्त तारीख-ए-रजीदी, दारावनामा, खस्सा-निजामों आदि प्रस्त्रों की भी चित्रित प्रतियाँ अकबर के काल की मिलती हैं । अकबर के पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें थीं जिनमें संकड़ों ग्रन्थ चित्रित थे । इनसे उस महान् संग्राह ने चित्रकला को कितना प्रोत्साहन दिया इसका अनुमान लगाया जा सकता है ।

अकबर ने स्वयं अपनी अनुकृति बनवाई और यह आदेश दिया कि सामाज्य के सभी उमरा अपने-अपने व्यक्ति-चित्र बनवाएं । अबुल फज्ल के कथना-मुसार इन व्यक्ति-चित्रों को एक बड़ी पोथी में सम्पूर्ण किया गया । यह व्यक्तिगत चित्रण मुगल कला का अपना निजी पक्ष है जिसका प्रारम्भ और विकास मुगलों के उदार और चेतनाशील संरक्षण और उनके सम्पन्न और सांस्कृतिक युग में ही सम्भव

हुआ। भारतीय कला में यह एक नवीन वारा का सूचपात्र करता है।

फतेहपुर सीकरी में अकबर ने आवास के बहुत से महलों में भित्तिचित्र बनवाए। ये चित्र गम्थों के समान ही हैं केवल उनको दीवार के नाम के अनुकूल बढ़ाकर बनाया गया है। वही सुन्दर विशय और लगभग उन्हीं रंगों का प्रयोग हुआ है। अधिकांशतः वे खेल, शिकार, युद्ध और उत्सवों के हृष्य हैं। भारतीय देवी-देवताओं के चित्र भी इनमें सम्मिलित किए गए हैं। भारतीय प्रकृति और भारतीय वेष-भूषा का चित्रण है। स्वावरगाह और रंगीन महल में इन सुन्दर भित्तिचित्रों के अवशेष रह गए हैं।

अकबरकालीन चित्रशैली की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य चित्रशैलियों से पृथक् करती हैं। इन चित्रों की मूल प्रेरणा ईरानी होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय है। हम्जानामा के पश्चात् यह कला ईरानी और भारतीय विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट होती है। इसके आलेखन में गति और अभिव्यञ्जना है। आकृतियां भावपूर्ण हैं। चित्रों में केवल रेखाओं की ही कला नहीं है अपितु उनमें सजीवता और उन्मुक्तता है। ईरानी आलंकारिकता को भारतीय विशेषों, वेषभूषा, पश्च-पश्ची, प्रकृति और वातावरण के चित्रण के साथ-साथ छोल मेल लिया गया है।

अकबर के चित्रकार अधिकांशतः विशुद्ध भारतीय रंगों का प्रयोग करते हैं, जैसे सिन्दूर, पेवड़ी, लाजवर्दी, हिंगुल, जंगाल, मेह, हिरोंजी, रामरज, हरा ढावा एवं नील आदि। इन रंगों के मिश्रण से बड़े सुन्दर चमकदार और मीने को तरह दमदमाते हुए चित्र बनाए जाते थे। उनके ऊपर प्रभा के लिए स्वर्णकारी की जाती थी। अबुल फज्जल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि अकबर के राज्यकाल में रंगों के मिश्रण में विशेष प्रगति हुई है।

एक-एक चित्र पर कई-कई कलाकार काम करते थे, कोई बसली बनाता था तो कोई उस पर रूप-रेखाएँ। एक अन्य उस पर चित्रांकन करता था और कोई दूसरा अन्य रंग करता था। धीरे-

धीरे अपने-अपने धन्त्र में हर कलाकार विशेषज्ञ हो जाता था। इस प्रकार यह कला किसी एक कलाकार को व्यक्तिगत शैली नहीं है अपितु मुगल संरक्षण में पल्लवित एक सुन्दर कला-प्रवृत्ति है जो उस सम्पूर्ण-युग से सम्बन्धित है और कुछ अंगों में हृष्य कला द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करती है। इस पर कलाकार से अधिक आत्मगदाता के व्यक्तित्व की आप हैं, उस भावना की आप है जिसकी प्रेरणा से इन सब कलाकारों का साथ बैठकर कला माध्यमा करना सम्भव हुआ।

मुगल और राजस्थानी (राजपूत) दोनों शैलियों का विकास यद्यपि साथ-साथ और लगभग पास-पास ही हुआ फिर भी दोनों दो भिन्न शैलियां हैं। मुगल शैली में व्यक्तियों और घटनाओं का चित्रण है और इस प्रकार यह व्यक्ति-चित्रकला (Portraiture) और इतिहासवृत्त-कला (Chronicle) को थोड़ी में आती है। उसमें मुगल साम्राज्य के दरबार, खेल, युद्ध और शिकार के हृष्य हैं या व्यक्ति-चित्र हैं। राजपूत-शैली व्यक्तिगत नहीं है वह लोकशैली है और तत्कालीन धर्म और साहित्य में व्याप्त प्रवृत्तियों और भावनाओं का चित्रण करती है। अर्थात् मुगल शैली राजकोश संरक्षण में पली दरबारी कला (Court Art) है, संरक्षण ही उसकी मूल प्रेरणा है। राजपूत-शैली मूल रूप से सम्भान्त लोक-कला (Folk-Art) है। यह तत्कालीन धर्म और कानून से प्रेरित है और शृंगार और सौन्दर्य इसकी आस्मा है। इसकी कल्पना उस जीवन से पृथक् नहीं की जा सकती जिसको यह चित्रित करती है। यह मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रत्येक चरण को प्रतिरिक्षित करती है। इस शैली की प्रमुख धाराओं को भारतीय कथानको, कृष्ण-लीला साहित्य, संगीत-सिद्धांतों और शृंगार साहित्य के ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता है। इसलिए इसे भारत के देवी साहित्य का प्रतिरूप कहना गलत नहीं होगा।

कार्यविधि और रचनाक्रम के हिटकोण से भी दोनों में अन्तर है। राजपूत रूपरेखाएँ मुगल रूप-रेखाओं की तरह स्थित और निश्चित नहीं हैं वरन् गतिमान और उड़ती-उड़ती-सी हैं। मुगल-कला में

छाया डारा उठान दिखाया गया है राजपूत-कला में सीधे रंगों का प्रयोग हुआ है तथा दिन और रात को एक समान चित्रित किया गया है। मुगल चित्रकला का इटिकोण उदार है। वह विकास की ओर उन्मुख है और नए-नए प्रयोग करने में मुगल चित्रकार हितकरा नहीं। पुरोग से १६वीं और १७वीं शताब्दी में जो प्रेरणा आई उसे मुगल कला में स्वच्छत्व रूप से स्वीकार किया गया है। राजपूत कला में ये तत्त्व नहीं मिलते। राजस्थानी चित्रकार धीरे-धीरे फिर संकुचित रुद्धियों में फंस जाता है। इस प्रकार विषय, वेषभूषा और कभी-कभी आकृतियाँ दोनों शैलियों में समान होते हुए, भी मुगल और राजपूत शैलियों के प्राण अलग-अलग हैं।

चरमोत्कर्ष

अकबर के राज्यकाल में ही ईरानी ग्रनाव के विशद मुगल चित्रकला में एक प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी और भारतीय तत्त्वों को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा था। १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में जहाँगीर के गढ़ी पर बैठने के समय तक मुगल कला चित्रजाद के ग्रनाव से मुक्त हो गई। अकबर चित्रकला को आमोद और अध्ययन के द्वेष से प्रोत्साहन देता था। राष्ट्रीय सशाट की अपनी कल्पना के अनुरूप भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को संरक्षण देना वह अपना कर्तव्य भी समझता था। किन्तु चित्रकला में जहाँगीर की सचि स्वाभाविक और आन्तरिक थी। वह चित्रकला को एक व्यक्तिगत शौक की तरह से प्रेरणा देता था। उसके संरक्षण में मुगल चित्रकला ईरानी वन्धनों से मुक्त हो गई और नए-नए शैलियों में उसके विकास का मार्ग खुल गया। यद्यपि मुगल चित्रकला का जो अपना निजी व्यक्तित्व था वह इसमें बराबर बना रहा किन्तु जहाँगीर के कलात्मक युग में चित्रकारों में एक नवोन-जागृति पैदा हुई और नए-नए चित्रणों को दिशा में यह कलाशारा चल निकली। विषय और विच दोनों इटिकोणों ने ही मुगल चित्रकला का चरमोत्कर्ष जहाँगीर के राज्यकाल में हुआ।

अकबर के समय की चित्रकला में ईरानी शादओं पर आधारित अनुकृतियों का बहुल्य है। इसमें

कोई सन्देह नहीं है कि कलाश्वेत्र में यह एक महान् जागरण का आरंभ था, किन्तु कला का स्वाभाविक विकास और परिपक्व अवस्था जहाँगीर के राज्यकाल में ही प्राप्त होती है।

अकबर के युग में ऐतिहासिक और अन्य कथानकों का चित्रण हुआ। जहाँगीर के काल में इस चित्रण को उत्तम महत्व नहीं मिला। प्रकृति-चित्रण चित्रकला की प्रमुखतावारा बन गया। जहाँगीर के दरबारी धीरन की विविध घटनाओं का चित्रण भी वडे व्यापक स्तर पर किया जाने लगा। विषय-गरिवतेन से कला में वैसे ही नव-सृष्टि आई जैसे अपन्ने के रुद्धिगत विषयों में मुक्त होने पर राजस्थानी शैली में सौन्दर्य निखर उठा था।

जहाँगीर के दरबार में बड़े-बड़े कुशल चित्रकार रहते थे। इनमें कुछ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

अबुल हसन नादिर-उज्जमा
सालिलाहन
फराबदेग
उस्ताद मन्सूर
विशनदास
मनोहर
गोवर्धन
दीलत
मौहम्मद नादिर
उस्ताद मुराद

अबुल हसन जहाँगीर के राज्यकाल के शेष्ठतम कलाकार कहे जाते हैं। ये विश्वात् ईरानी चित्रकार आकृत रजा के पुत्र थे। आकृत रजा जहाँगीर के दरबार में आकर रहने लगे थे। अबुलहसन की कला की प्रकृति जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा में की है। निस्संदेह अकबर के दरबारी चित्रकार सुन्दर चित्र बनाते थे किन्तु अबुलहसन की कला में कुछ और ही बात है। उसके चित्रों में तुलिका का लावण्य और अक्कन की कोमलता है। उसकी कला में भावना है और वह कलाना के सहारे ऊपर उठकर काव्य के विराट लोक में ला जाती है (चित्र-१७ और १८)। अबुल हसन ने साधारण विषयों को चित्रित किया है

जैसे बैलगाहों। किन्तु इन दृश्यों को उसने सूक्ष्म निरीक्षण और भावनात्मक कला के साथ प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस जगत् प्रसिद्ध चित्र की विधि ईरानी है किन्तु विषय, आगा, अलंकरण, दृश्य आदि अन्य तत्त्व भारतीय हैं। उस्ताद मालिवाहन जहाँगीर के दरबार के एक अन्य प्रमुख चित्रकार थे। इन्होंने बड़े-बड़े सुन्दर पट्ट और पट्ट चित्रित किए।

सभाट जहाँगीर अनन्य प्रकृति प्रेमी था। उसने चित्रकला में प्रकृति के सुन्दर-सुन्दर अंगों की अनुकृतियाँ बनवाईं। मन्सूर, मुराद और मनोहर ने जीवधारियों—पशु और पशियों के जो चित्र बनाए वे भारतीय दृश्यकला के बाह्यमय में एक अद्भुत अध्याय जौँदे देते हैं। उस्ताद मन्सूर पेह-पीछों और पक्षियों के चित्र बनाने में विशेष रूप से दस्त थे। वे अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का भी निपुणता से चित्रण कर लेते थे। उनके चित्रों में नक्काशी जैसा सूक्ष्म चित्रण किया गया है जायद इसीलिए वे अपने आपको "मन्सूर नक्काश" कहते थे। अगर कोई पक्षी बनाया गया है तो उसका बाल-बाल स्पष्ट रूप से दिखाया गया है (चित्र-१६)। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मन्सूर ने सौ से अधिक ऐसे प्राकृतिक विषयों के चित्र बनाए। इन सभी चित्रों के चारों ओर बैल-बूटेवार सुन्दर हाशिए बनाए गए जो मूल्य चित्र के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं।

जहाँगीर के संरक्षण में चित्रकला ने एक और महत्वपूर्ण भौमि लिया। वैसे तो अकबर ने व्यक्ति-चित्रों को बड़ा महत्व दिया किन्तु जहाँगीर के कला में व्यक्ति-चित्रण चित्रकला की प्रमुख धारा बन गया। अब तक अन्य-चित्रों में यह कला सीमित रह गई थी अब इसका अभूतपूर्व विकास व्यक्ति-चित्रों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ (चित्र-२० और २१)। चित्रनदास जहाँगीर का अत्यन्त निपुण व्यक्ति-चित्रक (Portrait-Painter) था। स्त्री चित्रकारों द्वारा हरम की देवामों के भी चित्र बनाए गए।

जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता है जो, जैसाकि कुछ विहानों का मत है, किसी यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव के कारण नहीं प्राप्त है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही रहा

है कि उस पर अधिकांशतः यूरोपीय विद्वानों ने काम किया है और अपने शोष-बृत्तों में वे अपने विदेशों, रुचियों और व्यक्तिगत धारणाओं की छाप छोड़ना नहीं भूले हैं। हमने स्वयं परिश्रमपूर्वक अपनी संस्कृति का मूल्याकान करने का उत्तरदायित्व अभी तक पूरा-पूरा नहीं निभाया है। इसलिए बहुत-सी भ्रातियों प्रचलित चली आ रही है। जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता विकास को दिशा में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न गुण है किसी यूरोपीय प्रेरणा के कारण नहीं है। अभी भारतीय कलाकार की असीम क्षमता को विद्वानों ने नहीं पहचाना है।

चित्रकला को जहाँगीर के हाथों अनन्य प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वह चित्रकला से इतना प्रेम करता था कि उसका अधिकांश समय चित्रकारों या उनकी कृतियों के साथ बीतता था। १६०६ में गिरीरो जहाँगीर के चित्रकला प्रेम की बड़ी प्रवासा करता है। विलियम हाकिल्स भी जहाँगीर की चित्रकला का उल्लेख करता है। विशेष रूप से सर टामस रो ने सभाट के चित्रकला नंबंधी बड़े रोचक उल्लेख किये हैं। जहाँगीर इस कला का एक उत्कृष्ट समालोचक था और चित्र देखकर बता देता था कि वह किस उस्ताद का बनाया हुआ है। अपनी आत्मकथा में तो वह यहाँ तक दावा करता है कि यदि एक ही चित्र में कई चेहरे अलग-अलग चित्रकारों के बनाए हुए हों तो वह यह बता सकता था कि कौन-सा चेहरा किसका बनाया हुआ है। यह तभी सम्भव है जब वह बारम्बार उन चित्रकारों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन करे और उनकी तूलिका से परिचित हो जाए। इससे उसकी इस कला में स्वाभाविक रूचि का पता लगता है। स्पष्ट ही है कि जहाँ अकबर इमरतों, संगीत और चित्रकला में एक-सी रुचि लेता था, जहाँगीर अधिकांशतः चित्रकला पर ही ध्यान देता था और इसी कला के उत्कर्ष का इतिहास हम उसके राज्यकाल में पढ़ते हैं। अन्य कलाओं में उसकी रुचि गोरा थी। चित्रकला के लिए जहाँगीर का युग मध्यकाल में स्वर्णयुग था।

इसी काल में चित्रों को हाशियों (Borders) से सजाने की कला प्रारम्भ हुई जिसने चित्रों को

अद्भुत सौन्दर्य प्रदान किया। चित्र के चारों ओर मुन्दर बेलबूटेदार डिजाइन में हाशिया बनाया जाता था। इसमें प्राकृतिक हथय, पेड़, चट्टानें आदि तो होते ही थे, कभी-कभी नन्हें-नन्हे पश्चियों से भी इसे सजा दिया जाता था। कभी किसी कथानक का कोई हथय भी दिखा दिया जाता था। इसमें लाल नीले आदि चमकीले रंगों के साथ अधिकांशतः सोने का काम किया जाता था जो फिलमिलाता रहता था और चित्र को प्रभावशाली ढंग से एक मुन्दर पूर्वभूमि (Setting) में प्रस्तुत करता था। हाशिएँ की कला के सर्वथेष्ठ उदाहरण बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित जहांगीर के युग की एक मुख्यका (Album) में हैं (चित्र-२२)। कभी-कभी ये हाशिएँ इनसे सुन्दर बन गए हैं कि मूल चित्र को उन्होंने गृष्ठभूमि में छोड़ दिया है और ऐसा लगता है कि चित्रकार का अध्ययन हाशिया बनाना ही था। यहां यह स्मरणीय है कि ऐसे एक चित्र पर बहुत से कलाकार काम करते थे। सिफे हाशिएँ पर ही कई-कई चित्रकारों का काम होता था, कोई हाशिएँ का अंकन करता था और कोई हथय की रूपरेखाएँ बनाता था। एक अन्य उसमें मुन्दर रंग भरता था। स्पष्टतः ही यह एक मिली-जुली योजना थी और इस पर किसी एक कलाकार की व्यक्तिगत छाप नहीं होती थी। यह कला आश्रयदाता की कलारूचियों और उस युग की कलाधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है।

शाहजहां के काल में मुगल चित्रकला का रूप बदल गया। उसकी व्यक्तिगत रूचि चित्रकला में नहीं बल्कि इमारतें बनवाने में थी। फिर भी उसने उन सांस्कृतिक परम्पराओं से छेड़छाड़ नहीं की जिनकी स्थापना उसके पितामह ने की थी। चित्रकार निरन्तर मुगल दरबार में आश्रय पाते रहे और चित्रकला पलती रही। सम्राट् की व्यक्तिगत रूचि से बचित रहने के कारण इसके विकास का मार्ग तो निश्चय ही रुक गया किन्तु चित्रकला सम्बन्धी मुगल दरबार की गतिविधियों में अन्तर नहीं आया। इस काल की चित्रकला सांभार्य के वैभव के समरूप चमक-दमक का प्रदर्शन करती है। उसकी प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों को दिखाने की, अर्थात् त्राणना-

त्यक हो, जाती है और भावना और-धीरे लुप्त हो जाती है। यह नकाशी सी लगती है। इसके विषय अब मुख्यतः शाही है और जीवन के साधारण पक्षों का चित्रण कम होता है (चित्र-२३)। इसमें भड़कीले और सोने के रंगों का अधिक प्रयोग होता है। वास्तुकला में सम्राट् की मूल रूचि के फलस्वरूप इस युग के चित्रों में वास्तुविषयों (Architectural Subjects) का बहुल्य हो जाता है।

औरंगजेब के राज्यकाल से मुगल शैली का पतन आरम्भ हो गया। वह कट्टर मुसलमान था और चित्रकला को धार्मिक दृष्टिकोण से बर्जित समझता था। यद्यपि उसके बहुत से चित्र प्राप्त हुए हैं जो यह सकेत करते हैं कि परम्परानुसार वह अपने चित्र बनवा लेता था, किन्तु उसने इस कला को कुछ प्रोत्साहन दिया हो ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उसकी धार्मिक अत्याचार की नीति राजनीति में ही नहीं कला के देव में भी वातक सिद्ध हुई। चित्रकार प्रेरणा के स्थान पर ताङना और प्रोत्साहन के स्थान पर उपहास पाते थे। धीरे-धीरे वे मुगल दरबार छोड़कर हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गए। माली चले गए तो बाग उजड़ गया।

मुगल कला व्यक्तिगत प्रेरणा से पल्लवित हुई थी। जहांगीर ने यदि उसमें गहरी रूचि ली तो कला ने चरमोत्तर्य प्राप्त कर लिया। औरंगजेब ने यदि उसे व्यक्तिगत रूप से तुकरा दिया तो वह कला समाप्त हो गई। यह बात राजस्थानी शैली में नहीं है क्योंकि वह लोकशैली है और राजकीय संरक्षण में पलते हुए भी वह संरक्षण पर आश्रित नहीं है। वह जीवन और विकास की प्रेरणा भारतीय जनजीवन की उस सांस्कृतिक भावना से लेती है जिसे किसी एक संरक्षण में सीमित नहीं किया जा सकता। यह राजस्थानी-शैली का गुण है। इसीलिए मुगल-शैली १८वीं शताब्दी में जहां पतन की ओर गिर गयी, राजस्थानी-कला में विभिन्न शाखाएँ फूटीं और विभिन्न केन्द्रों में उसका विकास हुआ।

देशी शैलियों का विकास

राजस्थानी और उसकी विभिन्न शाखाओं को देशी शैलियों का नाम देने का अर्थ यह नहीं है कि मुगल कला विदेशी शैली थी। इसे बहुत सीमित अच्छों

में प्रयुक्त किया गया है और तात्पर्य के बहल वही है कि इन शैलियों के कलाकार विशुद्ध देसीय चित्रकार ये और बाह्य प्रेरणाओं को स्वीकार करते हुए भी वे लोक-भावना का चित्रण करते थे। मुगल कलाकार भारतीय तो थे किन्तु उनका कार्यक्षेत्र सीमित था और सब्राट् की हवियों के अनुकूल उनको अपनी तृतीका चलानी पड़ती थी। उसमें जनजीवन को उतना स्थान प्राप्त नहीं होता था।

राजस्थानी में कृष्ण भक्ति विषयक और रीति-काव्य सम्बन्धी चित्रों के साथ-साथ रागमाला चित्रों का प्रचार बढ़ गया (चित्र-२४)। १७वीं शताब्दी में इसमें द्वेशीय शैलियों का विकास होने लगा। मेवाड़ में एक स्वानीय शाखा बन गई जो १७वीं शताब्दी के पूर्वांड में अपनी परिपक्वावस्था को पहुंच गई। इसके अन्तर्गत बड़े सुन्दर प्राकृतिक दृश्य बनाए गए। इनमें मुगल आलंकारिकता के भी दर्शन होते हैं। आकृतियों में गति है। महाराणाओं के व्यक्ति-चित्र भी बने। आमेर (जयपुर), बुन्दी, जोधपुर आदि में भी चित्रकला की विभिन्न परिमाणियों चल निकलीं। प्रत्येक शाखा में अपनी कुछ न कुछ स्थानीय विशेषता अवश्य रही जिससे उसके चित्रों को अन्य शैली के चित्रों से पहचाना जाता है। किसी में मुगल प्रभाव अधिक रहा, किसी में कम, किन्तु शोड़ी बहुत प्रेरणा मुगल कला से सभी शैलियों ने ली। बुन्देलखण्ड में दितिया और शोरका में बड़े सुन्दर चित्र बनाए गए। इनमें बड़ी सूक्ष्म आलंकारिकता है। भावनाओं को सुन्दर मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करने का भी कलाकारों ने प्रयत्न किया है। इस शैली के अन्तर्गत भी रागमाला चित्रों की बड़े व्यापक स्तर पर रचना हुई।

१८वीं शताब्दी में राजस्थानी शैली का पूरा विकास होता है। आलंकारिकता इसका एक विशेष गुण है। इसमें रागमाला, बाख्मासा, नायिका-भेद और कृष्णशैली मूल्य विषय रहते हैं। चित्रित ग्रन्थ भी बनाए जाते हैं। मेवाड़ में नाथद्वारा में चित्रकला का बड़ा विकास हुआ। यहाँ चित्रों के अतिरिक्त पटचित्र भी बहुत बड़ी संख्या में बनाए गए। ये लगभग सभी कृष्णभक्ति विषयक हैं। इनकी भक्तों में बड़ी मात्र रहती थी।

जम्मू और बसोहली की शैली ने जहांगीर-कालीन मुगल-कला से प्रेरणा ली थी। यह प्रभाव इस शैली पर काफी दिन तक बना रहा। इसके अन्तर्गत रागमाला, नायिका-भेद, रामायण और काव्य सन्तों सम्बन्धी विषयों का चित्रण हुआ। लगभग इसके समकालीन ही पहाड़ी शैली का विकास हुआ। बहुत से मुगल चित्रकार १८वीं शताब्दी में चम्बा, तूरपुर, कांगड़ा, भण्डी कुल्लू आदि पहाड़ी रियासतों के आधिकारियों में जाकर रहने लगे थे। मुगल दरबार की अभिसन्धियों से मुक्त ये कलाकार स्वच्छन्द अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते थे और इनके हाथों पहाड़ी शैली की स्थापना हुई। इनके चित्रों में व्याधी और भावना है। चित्रण सजीव और रमणीय है। विषय तो वही परमपरागत राजस्थानी है अर्थात् रागमाला, नायिकाभेद, रीति-काव्य सम्बन्धी आदि किन्तु उनके अंकम में अपनी विशेषता है जो उसे अन्य शैलियों से ऊपर उठा देती है। उनमें सौन्दर्य की जो अनुभूति होती है वह राजस्थानी की अन्य शाखाओं में कम देखने में शाती है। १८वीं शताब्दी में इस प्रकार राजस्थानी शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों का धीरे-धीरे प्रभाव पड़ा स्वाभाविक था और फिर पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

इस सन्दर्भ में दक्षिणी-शैली का उल्लेख भी आवश्यक है। दक्षिण में चित्रकला की परम्पराएँ अक्षुण्णे जीवित रहीं। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत भित्ति चित्रों का चित्रण होता रहा। वह भर्मी साम्राज्य के विषट्टन के पश्चात् बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर दक्षिण में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र बन गए। ये राज्य यिथा थे और हनका ईरान से सीधा सम्पर्क बना रहता था। ईरानी कला की प्रेरणा इस प्रकार दक्षिण में १५वीं और १६वीं शताब्दी में आई। इसने कलाकारों का हास्तिकोरा बदल देने का बही महत्वपूर्ण कार्य यहाँ किया जो अपनेश के सम्बन्ध में उत्तर में किया था। प्राचीन परियाटियों पर आधारित चित्रकला ने यहाँ भी इस नवीन कलाधारा से प्रेरित होकर अपना रूप और कुछ अंशों में अपना विधिनविधान बदल दिया।

मुगलों से सम्पर्क के पश्चात् इस शैली में मुगल प्रभाव व्याप्त हो गया। मुगल पद्धति पर व्यापक वैमाने पर व्यक्ति-चित्र बनाए गए। चित्रित-ग्रन्थों की भी भरमार हुई। इनमें वर्णन का सुकृत प्रदर्शन, सुन्दर रंगों का मिश्रण और अनुभूतियों का व्यक्तिकरण मुख्य विशेषताएं हैं (चित्र-२५)। देशीय पद्धति पर राममाला चित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई (चित्र-२६)। इनमें भारतीयता की वही छाप है जो राजस्थानी-शैली की विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत देखने को मिलती है।

मध्यकालीन चित्रकला के इस पर्यवेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है। ईरान, ईराक, सीरिया और भिश्र आदि जिन-जिन देशों में इस्लाम फैला उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को समाप्त कर दिया या उन्हें पूरणतया नवीन रंग में रंग दिया। प्राचीन परम्पराएं इन देशों में धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। किन्तु भारत में इस्लाम यह परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुआ। यहाँ इस्लाम का आना राजनीतिक और सामान्य जीवन में जाहै विष्वंसकारी

रहा हो, कला-क्षेत्र में उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ा। इस्लाम के संसर्ग से यहाँ की कलाओं में नवजीवन आया और प्राचीन रूढ़ियों को त्याग कर उन्हें विकास की नई-नई वीथिकाओं पर चलने की प्रेरणा मिली। स्वयं नष्ट होने की शोक्षा उन्होंने बाहर से आने वाले प्रभाव को ऐसे आत्म-सात कर लिया कि वह उनके स्वरूप में ही विलीन हो गया और समन्वय की इस क्रिया से उनका ही रूप निखर उठा। इसके लिए भारतीय हण्ठिकोण की उदारता और नई प्रेरणाओं को स्वोकार करने की उसकी स्वच्छन्दता उत्तरदायी है। भारतीय कला चेतन और निरल्लर विकासशील है और कोई आश्चर्य नहीं है कि मध्यकाल की कठिन परिस्थितियों उसे नष्ट नहीं कर सकती। इसके विपरीत इस काल में चित्रकला संकुचित बन्धनों से उन्मुक्त होकर नवीन-नवीन प्रयोगों और परिणामस्वरूप बहुमुल्ती प्रगति की दिशा में चल निकली। परिवर्तन-शीलता भारतीय कला की आत्मा है और इसके लिए उस पर कोई अंकुश नहीं है। यही इसके विकास का रहस्य है।

संगीत की प्राचीन परम्परा

हमारे यहां संगीत कला ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही बड़ी उन्नति करली थी। वैदिक काल में कई प्रकार के वाच जैसे—वीणा, कंकरी, कन्दवीणा आदि (तारों के वाच); तुरद, नादि, बकुर आदि (वायु के वाच); दुन्दुभि, भूमि-दुन्दुभि, अदम्बर, वनस्पति, मृदंग आदि (चमड़े से मढ़े हुए वाच) प्रचलित थे। कई प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है। तारों के वाचों का प्रयोग उसी देश में होना सम्भव है जहां संगीत अत्यन्त परिष्कृत अवस्था में पहुँच गया हो। तन्तु वाचों में वीणा सर्वोत्तम मानी जाती है और उसका वैदिक युग (अनुमानतः १५०० से ६०० ईसा पूर्व) में प्रचलन हमारे यहां संगीतकला की उन्नति का परिचायक है।

प्राचीनकाल में संगीत को समुचित राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जाता था। ऐसे अनेकों उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि संगीत का तत्कालीन भद्रन्समाज में बड़ा प्रचलन था। पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अर्जुन राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा देते थे। भास के नाटक 'प्रतिज्ञा वौगंधरायण' में राजा उदयन के वीणा बजाने में अत्यन्त निपुण होने का उल्लेख मिलता है। अष्टव्योप कनिक के दरबार के

विस्थात कवि और धुरधर गायनाचार्य थे। प्रतापी गुप्त सम्भाट समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तम्भ लेख में अपने आपको संगीतज्ञ बताते हैं। उनीं शताब्दी के वाणि के हृष्णचरित में संगीत सम्बन्धी बड़े रोचक विवरण मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जीवन में संगीत का एक महत्वपूर्ण स्थान था।

यह इस बात से भी प्रमाणित हो जाता है कि हमारे यहां संगीत साहित्य का निर्माण भी अत्यन्त प्राचीन काल से हुआ है। सामवेद का एक भाग गान है जिसे सामगान कहते हैं। प्राचीन परमारा में संगीत के बड़े-बड़े आचारों के नाम मिलते हैं जैसे सदाशिव, शिव, ब्रह्म, भरत, कश्यप, मतंग, याष्ठिक, नारद, विशाखिल, रावरण, क्षेत्रराज आदि। भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य और संगीत का पहली बार विविहत् विवेचन किया गया। 'रागों' का विकास शायद इस काल तक नहीं हुआ था। इसके पश्चात् दत्तिल संगीत के एक बड़े शास्त्रकार हुए। फिर मतंग मृनि ने संगीत पर 'दृहद्वेणी' नामक ग्रन्थ लिखा। राम शब्द का सूत्रपात सबसे पहले मतंग ने किया। इसके पश्चात् नारद का 'संगीत-मकरन्द' आता है जिसका काल चौथी से सातवीं शताब्दी ईसा निश्चित किया गया।

है। यह संगीत का पहला महान् ग्रन्थ वा जिसमें राग, रागिनियों का विश्लेषण किया गया था। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य रुद्रट, नामदेव, राजा भोज, परमदीर्घ, सोमेश, जगदेकमल्ल, लोलट, उद्भट, शंकुक, अभिनवगृष्ण और कीर्तिवर आदि ग्रन्थ संगीताचार्य हुए।

शांगदेव का 'संगीत-रत्नाकर' संगीत का दूसरा बड़ा ग्रन्थ है। वे १२१० ई० से १२४७ ई० के मध्य दक्षिण में देवगिरि (दोलताबाद) में रहते थे। उसमें उन्होंने शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर,

बादों के चार भेद, स्वरों की श्रूति और जाति, ग्राम, मूर्छना, प्रस्तार, राग, गायन, गीत के गुणदोष, ताल, नर्तन आदि संगीत के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया। उन्होंने कुल २६४ राग गिनाएँ जिनमें २० मूर्ख राग थे, द उपराग और शेष गौण। इस ग्रन्थ में शांगदेव ने केवल संगीत की प्राचीनतम परम्पराओं को ही लिपिबद्ध नहीं किया, अपितु संगीत कला के सभी पक्षों का वैज्ञानिक विवेचन करके संगीत के एक मूल ग्रास्त्र की नीव डाली।

सल्तनत काल में संगीत का विकास

यह कुछ आश्चर्य की सी बात लगती है कि जिस सल्तनत युग (१२०६—१५२६ई०) को अन्यथा अन्धकारमय युग कहते हैं उसी काल में भारतीय संगीत का सर्वोल्कृष्ट विकास हुआ। यह सत्य है कि अमीर खुसरो (जन्म १२५३ई० मृत्यु १३२५ई०) १३वीं शताब्दी में ही भारतीय संगीत की उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अपने ग्रन्थ 'तुह सिपहर' (नव-आकाश) में वे भारत को दस बातों के कारण अन्य देशों से उत्तम मानते हैं। इनमें आठवां कारण वे इस प्रकार बताते हैं—

'भारतीय संगीत से हृदय और आत्मा उद्भेदित हो जाते हैं। यह संगीत किसी भी अन्य देश के संगीत से उत्तम है। इसे सीखना आसान नहीं है। विदेशी लोग तीस और चालीस साल भारतवर्ष में रहने के बाद भी भारतीय लयों को सही नहीं बजा सकते हैं।'

भारतीय संगीत की प्रगति वे नवीं बात में फिर करते हैं—'भारतीय संगीत केवल मनुष्य मात्र को ही प्रभावित नहीं करता, यह पशुओं तक को मन्त्रमुग्ध कर देता है। हिरन संगीत से अवाक् खड़े रह जाते हैं और उनका आसानी से छिकार कर लिया जाता है।'

किन्तु इस काल में भारतीय संगीत में कुछ नए नए तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया जो मुसलमानों के साथ १३वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष में आए। ईरानी संगीत को कुछ विशेषताएं यहाँ स्वीकार की गयीं और कुछ नए राग और नई पद्धतियों का आविष्कार हुआ। अमीर खुसरो के सन्दर्भ में ही हमें इस समामेलन के प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं। उसने भारतीय संगीतशास्त्र का गहन अध्ययन किया। वह ईरानी पद्धति के चार उस्तुल बारह परवे आदि सिद्धान्तों से भी भलीभांति परिचित था। उसने भारतीय और ईरानी सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से कुछ नए राग निकाले जो मध्य-कालीन भारतीय ईरानी संस्कृति के विशिष्ट लक्षण हैं। १५-१६वीं शताब्दी में लिखे गए 'रागदर्पण' के अनुसार अमीर खुसरो ने निम्नलिखित नए रागों का सूत्रपात्र किया:—

मुजीर	सरपद	बसीट	गजन	तराना
ऐमन	फिरोदस्त	सुहिल	फरसान	निगार
मुवाफिक	कौल	साजगारी	बाखज़	शाहान
जिलाफ	ख्याल	उशशाक़	मुनम	

कब्बाली का सूत्रपात्र भी अमीर खुसरो ने किया। कहते हैं सितार का आविष्कार भी खुसरो ने

हो किया। सितार ईरानी तम्बूर या ऊद से मिलता-जुलता होता है और भारतीय चीण की पद्धति पर बजाया जाता है। किन्तु खुसरो के ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार यह कहते हैं कि खुसरो ने मृदंग से तबले का आविष्कार किया।

भारतीय संगीत को इस प्रकार मध्यकाल में एक नई दिशा और एक नया जीवन प्राप्त हुआ। यांचों कहना अधिक सत्य होगा कि नई-नई विधियों के जोड़े जाने के फलस्वरूप एक नई कला का जन्म हुआ। स्वाल और तराना जैसे नए-नए रानों ने भारतीय संगीत का स्वरूप ही बदल दिया। प्राचीन संगीत में 'जति गायत' की प्रवानता वी जाती थी, मध्यकाल के संगीताचार्यों ने 'राग गायत' का प्रचलन किया।

अमीर खुसरो गयासुदीन बलबत के समय से गयासुदीन तुगलक के राज्यकाल तक प्रसिद्ध दरबारी, सूफी, कवि और संगीतकार थे। उनकी गणना देश के विव्यात संगीतकारों में की जाती है। उस समय संगीत मनोरंजन का प्रिय साधन था। खुसरो अपने ग्रन्थ किरानुस्सादे में केक्कवाद (१२८७-६०) के शाही संगीत सम्मेलनों का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। शुल्तान जलालुदीन खिलजी भी संगीत का बड़ा शौकीन था। उसके दरबार में मुहम्मद शाह, फिकाई की पुत्री चली फतुहा नुसरत खातून और मेहर अफरोज जैसी निपुण संगीतकार रहती थीं। एक अन्य ग्रन्थ 'ऐजाज-ए-खुसरवो' में वे अलाउद्दीन खिलजी के राजकाल के संगीतज्ञों का विवरण देते हैं जिनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों के कलाकार थे। उस समय निम्न-लिखित बाद बजाए जाते थे—

चंग	चंगनाना	(सारंगी)
इफ	दस्तक	
नाय (बंसी)	रबाब	
गहनाई	तम्बूर	

खुसरो स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। वे बड़ा सुन्दर गाते थे। उन्होंने जो नए-नए राग निकाले उनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों का सीन्दर्यं और मिठास था। 'स्वाल' का आविष्कार

खुसरो ने किया और यह एक बहुत बड़ी घटना थी। अब तक ध्रुपद जैली बलती थी जिसमें एक ही लय को स्वरों में बड़ाया जाता था। 'स्वाल' के अन्तर्गत 'अलाप' होता है जिसमें राग की कहिया होती है और इनमें तानों को मधुर गति से दुहराया जाता है। 'स्वाल' बहुत प्रचलित हुआ। खुसरो ने 'तराना' का भी सूत्रपात किया। वाद-संगीत में 'भाला' जो काम करता है कण्ठ-संगीत में तराना का वही स्वान है। खुसरो संगीत रचनाएँ भी बनाते थे और एक स्वान पर उन्होंने लिखा है कि अगर एकत्रित की जाएं तो उनको संगीत रचनाएँ इतनी सारी होंगी जितनी उनकी काव्य रचनाएँ हैं।

गोपालनायक खुसरो के समकालीन एक महामूर्ति जैसे थे। वे दक्षिण के रहने वाले थे और एक किवदन्ती के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में आए थे जहाँ खुसरो से उनकी संगीत प्रतियोगिता हुई थी।

इस काल में सूफी मत के अन्तर्गत भी संगीत को प्रोत्साहन मिला। यथापि कटुर मुल्ला द्विट्कोण के अनुसार इस्लाम में संगीत वर्जित है, तथापि सूफी सन्त संगीत को 'समाँ' के रूप में स्वीकार करते थे। संगीत आत्मा को जगाता है और इस प्रकार ईश्वर ने मिलने की दिशा में ले जाता है। बड़े-बड़े सूफी सन्तों के 'खानकाशो' में संगीत सभाएँ होती थीं। धूमधाम से कवालियां गायी जाती थीं। इस बात पर थोख निजामुदीन शौलिया का गयासुदीन तुगलक (१३२०-२५) और उसकी जाह पर मल्लाओं ने बड़ा विरोध किया। किन्तु वे सन्त के संगीत सम्मेलनों में शवरोध नहीं पहुंचा सके। धोरे-धोरे कवाली सूफी-मत का विशिष्ट अंग बन गया।

मुलतान मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१) अपने पिता के विपरीत उदार प्रकृति का शासक था। वह संगीत का बड़ा शौकीन था और कहते हैं कि १२०० उत्तम कोटि के संगीतज्ञ उसके यहाँ तियुक्त थे जो उसका समय-समय पर मनोरंजन करते थे। फिरोज तुगलक का इतिहासकार आफीक लिखता है कि मुलतान संगीतज्ञों को संरक्षण देता है। हर शुक्रवार को नमाज के बाद संगीतज्ञ महल में

एकत्रित होते थे और अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कुछ बाद जो उस समय बजाए जाते थे, इस प्रकार थे :—

चंग	अगुन	तफीरी
कमंच	खाव	मिस्कत
नाव	तम्हर	
ढोल	भीर	

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग

सल्तनत का आरम्भिक काल भयकर संघर्षों का काल था। विदेशी आक्रमणकारी की समझ में यहाँ का धर्म और इस धर्म पर आधारित कला-सामाजिक व्यवस्था और जीवनशापन का ढंग नहीं आता था और 'कुफ' कह कर वह इसे नष्ट कर देना चाहता था। किन्तु धीरे-धीरे वह समझ गया कि जिसे वह धराशायी कर देना चाहता है वह नरगिस का पौधा नहीं है, वह बरगद का विशाल पेड़ है—जिसकी शाखाएँ कटती जाती हैं, निकलती जाती हैं और पेड़ अक्षुण्ण अपनी महरी छड़ों और विशाल तने के बल पर—अपनी प्राचीन परम्पराओं पर जीवित रहता है।

धीरे-धीरे संघर्ष का जोश कम हो गया। एक पड़ोसी ने दूसरे को सहानुभूति से देखा। दोनों मिल-कर बैठे और सांस्कृतिक विनिमय आरम्भ हुआ। बाहर से आने वाली नई-नई प्रेरणाओं को धीरे-धीरे स्वीकार किया गया और भारतीय मूल के आधार पर एक मिलीजूली संस्कृति का उदय हुआ। सांस्कृतिक सम्मेलन की यह प्रक्रिया समय बीतने के साथ-साथ तेज होती गई और इस प्रकार लगभग १५वीं शताब्दी से सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग आरंभ हुआ। भक्ति अधीलन ने धर्म और समाज की कागद पलट कर दी। हिन्दू बास्तु-कला में मुस्लिम तत्त्वों के समावेश के फलस्वरूप इस काल में अत्यन्त सुन्दर और मनोरम एक नई शैली का विकास हुआ जो मुगालों के राजकाल में चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस युग का सबसे अधिक प्रभाव संगीत के क्षेत्र में पड़ा। संगीत का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है और भावों से उद्भेदित होते ही यह विद्रोह कर उठता है, सारे बच्चन तोड़कर परिवर्तन को

स्वीकार कर लेता है। नई प्रेरणा ने प्राचीन संगीत पद्धति में एक नया जीवन के दिया और उसे विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

संगीत को इस युग में बड़े व्यापक प्रमाणे पर राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कड़ा मानिकपुर के शासक मलिक सुलतानशाह के पुत्र बहादुर मलिन ने संगीतज्ञों का एक बहुत सम्मेलन बुलाया। इसमें संगीत रत्नाकर आदि संगीत के प्रठारह ग्रन्थों को एकत्रित करके सब विवादास्पद विषयों का निर्णय कराया गया और परिशास्त्र-स्वरूप १४२८ ई० में 'संगीत-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना हुई जिसमें कुल निर्णीत बातें संकलित थीं।

जौनपुर के इब्राहीम शाह की (१४००-१४३६) और उसके पौत्र हसनशाह की (१४५३-७६) भारतीय संगीत में बड़ा प्रेम करते थे। उनके दरबार में भारतीय संगीत की बड़ी उन्नति हुई। वहीं से स्थाल-गायकी की एक नई पद्धति बली और कम से कम तीन नए रागों का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार कश्मीर के शासक जैनुल आवदीन के दरबार में भारतीय राग गाए जाते थे और संगीतज्ञों को आश्रय मिलता था।

मेवाह के महाराणा कुम्भा (१४३३-६८) अपने युग के एक महान् संगीतज्ञ थे। इस कारण उन्हें 'अभिनव भारताचार्य' कहा जाता था। उन्होंने संगीत पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे जैसे 'संगीत राज' और 'संगीत मीमांसा'। गीत-गोविन्द पर उन्होंने 'रसिक-प्रिया' नाम से एक टीका लिखी। उन्होंने 'संगीत-रत्नाकर' पर भी एक टीका की रचना की। इससे उनके संगीत के आचार्यत्व का तो पता चलता ही है, तत्कालीन संगीत की उन्नतावस्था का भी अनुमान होता है।

बालियर के राजा मार्निंह तोमर (१४८६-१५१६) भी संगीत के एक बहुत बड़े कोविद थे। उन्होंने संगीताचार्यों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया जिसमें रागों का विधिवत् वर्गीकरण किया गया। इसके आधार पर 'मान कुतूहल' नामक एक

बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा गया जिसमें संगीत-कला की सूखमतम बातों का विवृतापूर्ण विवेचन किया गया। मानसिंह ने धूपद को पुनर्जीवित किया और कुछ नए राग निकाले। उन्होंने ही ग्वालियर में शास्त्रीय संगीत की एक परम्परा की स्थापना की। विश्वविद्यालय तानसेन ग्वालियर की इसी परम्परा के शिष्य थे। राजा मानसिंह ने शास्त्रीय संगीत के ग्रन्थ 'राग दर्पण' का फारसी में अनुवाद कराया। इससे भारतीय संगीत का शास्त्रीय-ज्ञान विद्वान् मुसलमानों को भी उपलब्ध हुआ। मानसिंह के दरबार में बड़े-बड़े गवेये रहते थे जैसे बैजू, पाण्डवी, लोहाग और नायक भिक्षु। मध्यकालीन संगीत को ग्वालियर ने एक नया जीवन, नई चेतना और एक नया कलेवर दिया। राजा मानसिंह का इस दिशा में योगदान अभिनन्दनीय है।

विजयनगर के कुष्मादेवराय और सरकक रामराय कुबल गायक थे और बड़े-बड़े संगीतज्ञ उनके दरबार में संरक्षण पाते थे। संगीत पर बड़े-बड़े ग्रन्थ उनके समय में लिखे गए। अन्य राजदरबारों में भी संगीतज्ञ मुक्तहस्त आश्रय पाते थे।

सिकन्दर लोदी (१४८७-१५१७) को संगीत से बड़ा प्रेम था। कहते हैं गुलामों के हर से वह प्रत्यक्ष रूप से संगीतज्ञों को नहीं बुलाता था किन्तु अपने किसी मित्र या सरदार के यहां संगीत समायों का आयोजन करके समीप के खेम में बैठकर संगीत

का रसास्वादन करता था। उसी के राज्यकाल में फारसी में संगीत का पहला ग्रन्थ 'लहजत-ए-सिकन्दर जाही' लिखा गया। इसकी रचना उमर याहिया ने की जो ग्रंथी, फारसी और संस्कृत का विद्वान् था। 'लहजत' संस्कृत में लिखे संगीत के ग्रन्थों जैसे 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत कल्पतरु' पर आधारित है। लेखक ने इसे सिकन्दर लोदी को समर्पित किया है जो इस बात का द्योतक है कि सिकन्दर लोदी जैसा कट्टर बर्मांधि सुल्तान भी भारतीय संगीत का लोहा मानता था।

संगीत साहित्य में भी इस काल में बहुमूल्य वृद्धि हुई। १५वीं शताब्दी में ही पंडित दामोदर मिश्र ने 'संगीत दर्पण' नामक संगीत के एक महान् ग्रन्थ की रचना की। इससे संगीतशास्त्र में जिवमत की स्थापना हुई। इन्होंने मूल ६ राग और ३६ रागनियां मानी और उनके गाए जाने के समय निश्चित किए। इसी काल में 'संगीत-रत्नावली' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा गया। पंडित लोकन ने 'राग तरंगिणी' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें 'यमन' और 'फरदोस्त' रागों का वरणन है जो मुस्लिम पद्धति के सुन्दर तत्त्वों की स्वीकारोक्ति का परिचायक है। वास्तव में राग-रागनियों की जो नई पहचत इस ग्रन्थ में स्थापित की गई, उसी पर परवर्ती संगीत की नींव रखी गई है। शास्त्रीय थेट्र में विकास की यह एक महत्वपूर्ण अवस्था थी।

मुग़ल-काल : संगीत का स्वर्ण-युग

१५वीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो युग भारत में प्रारम्भ हुआ वह मुग़लों के राज्यकाल में, विशेषकर अकबर से शाहजहाँ तक के काल (१५८५-१६५८ ई०) में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल के पश्चात् यह सौ वर्ष का युग दूसरा स्वर्णयुग था जिसमें भारतीय संस्कृति को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला और उसकी अभूतपूर्व प्रगति हुई। अकबर के उदार दृष्टिकोण ने भारतीय कलाओं के लिए राजकीय आश्रय के द्वारा मुक्तहस्त खोल दिए और देशी कलावन्त मुग़ल दरबार से सम्बद्ध होकर विभिन्न कलाओं के विकास में लग गए।

१६वीं शताब्दी के बड़े-बड़े दरबारी संगीतज्ञ या तो ख्वालियर के होते थे या वे मशशाद, तबरेज़ आदि ईरानी नगरों से आते थे। कश्मीर के गवर्नर भी मज़हूर थे। संगीत की कश्मीरी परम्परा की स्थापना १५वीं शताब्दी में जैनुल आबदीन के संरक्षण में ईरान और तूरानी संगीतज्ञों ने की थी। नायक खिलू १६वीं सदी के एक महान् कलावन्त थे। वे ख्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के दरबार में रहते थे और ख्वालियर की संगीत परम्परा की स्थापना में उनका ठोस

सहयोग था। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र राजा विक्रमाजीत ने उन्हें वही सम्मान दिया। १६२६ में पानोपत में विक्रमाजीत की मृत्यु के पश्चात् खिलू कालिजर के राजा कीरतसिंह के यहाँ चले गए। वहाँ से वे गुजरात गए जहाँ सुल्तान बहादुर ने उन्हें अपने दरबार में बड़े प्रेम से रखा। शेरशाह के पुत्र इस्लाम शाह (१५४५-१५५३) को भी संगीत का बड़ा शौक था और उसके दरबार में दो बड़े गवर्नर रामदास और महापत्तर आश्रित थे। बाद में ये दोनों अकबर के दरबार में चले गए।

अकबर के राज्यकाल में एक नए युग का आरम्भ हुआ। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त, उदार शासक था। मुल्ला मौलियों को मुँह लगाना तो दूर की बात है वह उन्हें समृच्छित नियन्त्रण में रखता था जिससे वे राजकीय मामलों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सकें। अब तक उन्होंने राज्य को धर्मप्रशान्त राज्य (Theocratic State) बना रखा था, अकबर ने सही अधीक्षा में उसे धर्मनिरपेक्ष बना दिया। उसने धार्मिक भेदभावों की सभी पृथक्कालैं—जिया आदि—काट कर फेंक दीं और हिन्दू मुसलमान दोनों को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आधिक सभी क्षेत्रों में समान स्तर दिया।

उसने भारतीय दर्शन और विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया और भारतीय जीवन को सूक्ष्म ढंग से समझा। भारतीय कलाओं से वह बड़ा प्रभावित हुआ और संस्कृति के इन कोमल तत्त्वों को उसने उदार-हृदय संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। बड़े-बड़े संगीतज्ञों को अपने दरबार में आश्रय देकर उसने भारतीय संगीत के विकास में महत्वपूर्ण कड़ियाँ जोड़ दी।

दरबारी इतिहासकार अबुलफजल शाही संगीतज्ञों के विषय में आइन-ए-अकबरी में लिखता है— ‘संगीत के जादू की आश्चर्यजनक शक्ति का बरांन नहीं किया जा सकता। संगीत हृदय के कोमलतम भावों को उद्भवित करता है और धोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता है। यह गृहस्थ और बैरागी दोनों के लिए लाभकारी है।’

‘सम्राट्’ (अकबर) संगीत से बड़ा प्रेम करते हैं और संगीत साधना करने वाले सभी लोगों को आश्रय देते हैं। दरबार में बहुत से संगीतज्ञ हैं जिनमें हिन्दू भी हैं और ईरानी, तूरानी और कश्मीरी भी। स्त्रियां भी हैं और पुरुष भी। दरबारी संगीतकारों को सात भागों में बाँट दिया गया है, सप्ताह के एक-एक दिन प्रत्येक अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।’

अबुल फजल दरबार के मुख्य-मुख्य संगीतज्ञों की एक भूची देते हैं जिनमें सर्वप्रथम स्वालियर के तानसेन हैं। अधिकांश संगीतज्ञ स्वालियर के ही हैं। अन्य मशहूद, हिरात, किपचाक और खुरासान के हैं। रामदास कलावन्त, सुभान खाँ, मियाँ लाल खाँ कलावन्त भी बड़े संगीतज्ञ माने जाते थे। मालवा के बाजबहादुर भी इस भूची में हैं। अबुल फजल मुख्य-मुख्य कुछ वाद्य भी गिनाते हैं जैसे—

सरमण्डल	बीन
नाम	करणा
थीचक	तम्बूरा
कुबूज	रुबाब
सुरार्णा	कानून

कासिम ‘कोहवार’ ने कुबूज और रुबाब के सम्मानण से एक नया वाद्य निकाला था।

अकबर के दरबार के नवरत्न तानसेन भारतीय संगीत के महान् संगीतज्ञ माने जाते हैं। अबुल फजल उनकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और लिखते हैं कि वैसा गवेया भारत में पिछले एक हजार वर्ष में भी नहीं हुआ था। तानसेन स्वालियर के सभीप बेटे नामक ग्राम के रहने वाले थे। लायद उन्होंने संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा मुहम्मद गौस और हरिदास से पाई। इतना निश्चित है कि वे स्वालियर की शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत प्रशिक्षित थे। स्वरों पर उनका अद्भुत अधिकार था। वे आरम्भ में बाघवगड़ (रीवा) के राजा रामचन्द्र बघेल के यहाँ संगीतज्ञ थे। उनकी ह्याति अकबर के दरबार में पहुँची और अकबर ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। पहली बार ही उनका संगीत सुनकर अकबर मन्त्रमुग्ध हो गया और उसने दो लाख रुपयों का पुरस्कार दिया। वे फिर निरस्तर अकबर के दरबार में ही रहे।

उनके विषय में बहुत-सी किवदन्तियां प्रचलित हैं। उनकी बैज्ञ ब्रावरा से कोई संगीत प्रतियोगिता हुई थी यह सही प्रतीत नहीं होता है क्योंकि दोनों के कालक्रमों में बड़ा अन्तर है। सूरदास से उनकी मिश्रता अवश्य कही जाती है। भक्तकवि और संगीतज्ञ गोविन्दस्वामी से भी वे परिचित थे। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ पुण्डरीक विठ्ठल भी इनसे कछबाहा नरेश मानसिंह के संगीत-प्रेमी भाई माधवसिंह के यहाँ मिले थे।

तानसेन ने कई नए राग और रागनिया निकाली जैसे मिया की मलार, दरबारी कानड़ा, मियां की सारंग और मियां की टोड़ी। गुजरी टोड़ी के अविकास का व्रेय भी कमी-कमी तानसेन को दिया जाता है किन्तु लगता है कि यह स्वालियर के राजा मानसिंह के युग में आरम्भ हुई और उनकी गुजरी रानी ‘मृगनयनी’ की स्मृति में इसका नामकरण किया गया। कहते हैं तानसेन ने दबवीणा का भी आविष्कार किया। निश्चय ही हिन्दू-मुस्लिम संगीत पद्धतियों का जो मुन्दर सम्बन्ध १५वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था उसे अकबर के संरक्षण में तानसेन जैसे कलाकारियों ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

तानसेन के गायन में हृदय को मन्त्रमन्त्र कर देने वाली अद्भुत मिठास थी। जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मृत्यु के समय शेख सलीम चिश्ती ने अकबर से तानसेन का संगीत सुनने की प्रार्थना की। तानसेन बुलाए गए और उन्होंने अकबर के अनुकूल एक करुणामय राग गाकर सुनाया। उनका संगीत समाप्त होते ही सन्त ने शान्तिपूर्वक अपने प्राण त्याग दिए।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इस युग में गायन की जितनी प्रगति हुई उतनी संगीत के शास्त्रीय पक्ष की नहीं। 'राग दर्पण' के रचयिता फकीरल्लाह लिखते हैं कि मानसिंह तोमर के समय में संगीत के जैसे बड़े-बड़े आचार्य ये जैसे अकबर के समय में नहीं हुए। अकबर के समय में बड़े-बड़े गवर्ये ये जो गायनकला में अत्यन्त निपुण थे किन्तु संगीत के सिद्धांतों का ज्ञान उन्हें उतना नहीं था।

जहांगीर के दरबार में भी कलाकारों का वही सम्मान होता रहा जैसा अकबर के दरबार में होता था। अलबर्टा जहांगीर को संगीत से उतना लगाव नहीं था जितना चित्रकला से और उसका राज्यकाल चित्रकला के विकास का काल कहा जाता है। वह निरन्तर आगरे से बाहर लाहौर या कश्मीर में रहता था और इस कारण भी संगीत को अपने पिता जैसी प्रेरणा नहीं दे पाता था। शाहजहां के दरबार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों के आश्रय का उल्लेख मिलता है। तानसेन द्वारा स्थापित की हुई परम्परा पर ही घुपद का गायन होता था। तानसेन के दामाद लाल खां गुण समुद्र शाहजहां के दरबार के महान् संगीतज्ञ थे। दरबार के हिन्दू कलाकारों में जगन्नाथ महाकविराम जोटी के गायनाचार्य थे। बाद संगीत का भी प्रचलन बराबर बना रहा। दो बाद संगीतज्ञ बड़े विश्वास थे—हुबाब के कलाकार सुखसेन और बीन के कलाकार सुररेन।

भक्ति सन्तों ने भी संगीत के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वैष्णव सन्त गीतों को बड़ा महत्व देते थे और सुन्दर भजनों को गायन द्वारा प्रस्तुत करते थे। बल्लभाचार्य स्वयं एक संगीतज्ञ थे। उनके शिष्य सुन्दर गीत काव्य की ही रचना नहीं

करते थे, उन गीतों को सुन्दर स्वरों में गाते भी थे। वास्तव में मध्यकालीन गीत का अर्थ उस कविता से ही है जो संगीत पद्धति के अनुसार गेय हो। तुलसी की विनयपत्रिका और गीतावली भी ऐसे ही गेय काव्य हैं। भेवाह के महाराणा सांगा के पृत्र भोजराज की पत्नी मीराबाई निपुण संगीतज्ञ थीं। उनका बनाया 'मीराबाई का मलार' नामक राग प्रसिद्ध है।

बंगाल में संगीत की बड़ी प्रगति हुई। यह प्रदेश प्राचीन काल से ही संगीत का धर रहा है। १०वीं-११वीं शताब्दी में राग-संगीत का वहाँ बड़ा प्रचार था। १२वीं शताब्दी में हुए सैन वंश के प्रतापी राजा लक्ष्मण सैन संगीत से बड़ा प्रेम करते थे। जयदेव उनके ही दरबार में रहते थे। जयदेव ने गीत-गोविन्द में प्रबन्ध गीतों की रचना की जिनमें तत्कालीन राग और तालों का समन्वय किया गया। उनकी भारतीय संगीत को वह बहुमूल्य देन थी। कहा जाता है उनके गीत पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में प्रतिदिन देवदासियों द्वारा गाए जाते थे। कोटंन के रूप में दक्षिण में भी उनका प्रचार हुआ।

बंगाल के वैष्णव सन्तों के हाथों गायन की अन्य सुन्दर परम्पराएँ पल्लवित हुईं। चष्ठीदास और विद्यापति ने १४वीं-१५वीं शताब्दी में हुण्ण कीर्तन की पद्धति चलाई। मंगल-गीतों और पद-गीतों की भी रचना हुई। ये विभिन्न रागों और तालों में विभिन्न रस और भावों के साथ गाये जाते थे। श्री चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) के साथ बंगाल में नए युग का प्रवर्तन हुआ। यह संगीत के नवजागरण का युग था। उन्होंने नाम-कीर्तन की परम्परा चलाई। कीर्तन प्रबन्ध-नौरिति के अन्तर्गत एक निबद्ध गायनविधि है और इसमें ताल, राग, लय आदि संगीत के सभी तत्त्व होते हैं। चैतन्य कीर्तन पर बहुत अधिक जोर देते थे और राधा और कृष्ण की प्रेममय भक्ति के लिए संकीर्तन को ही सर्वोत्तम साधन मानते थे। उनके शिष्यों में उस समय के बड़े-बड़े संगीतज्ञ थे जैसे स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द, मुरारी गुप्त आदि। इन वैष्णव भक्ति सन्तों ने संगीत को अनन्य प्रोत्साहन दिया।

श्री चैतन्य के पश्चात् नरोत्तमदास, आचार्य थोनिवास ग्रादि वैष्णव सन्तों ने बंगाल में पद-कीर्तन को पुनर्जीवित किया। १६वीं-१७वीं शताब्दी में बुन्दाबन और मधुरा भारतीय संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। गोस्वामी कृष्णदास कविराज, स्वामी हरिदास ग्रादि आचार्यों ने एक नयी पद्धति का प्रारम्भ किया और प्रबन्ध-ध्रुपद गायन चलाया। इधर भक्ति सम्बन्धी मीरा और सूर के भजनों ने संगीत को बड़ा प्रोत्साहन दिया। बुन्दाबन के होली स्थौर्हार से सम्बन्धित होरी-घामार नामक एक प्रबन्ध संगीत का भी प्रारम्भ हुआ। परवर्ती संगीत की लगभग सभी परियाटियों को स्थापना इस प्रकार इस पुग में हुई।

१५वीं-१६वीं शताब्दी से संगीत सम्बन्धी चित्र बनाए जाने लगे थे। इन्हें रागमाला चित्र कहते हैं। १७वीं-१८वीं शताब्दी में राजस्थानी (राजपूत) गैलो के अन्तर्गत इन चित्रों का बड़ा प्रचार हुआ। इनमें रागमूर्तियों के साथ काव्यात्मक वर्णन और ध्यान मन्त्र भी होते थे। इससे प्रत्येक राग की विशेष कृतु और वातावरण की दिशा में यह एक ठोस प्रयत्न था। रागमाला चित्र संगीत और चित्रकला के पारम्परिक सम्बन्ध पर तो प्रकाश डालते ही हैं, मध्यकाल में व्याप्त उस लोकभावना का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो भक्ति पर आधारित तत्कालीन धर्म, साहित्य, चित्रकला और संगीत—जनजीवन के चारों सांस्कृतिक पक्षों—को प्रेरित करती थी। चित्रकला और संगीत भारतीय जीवन का अभिन्न घंग थी और जब उस जीवन का हाइटिकोण भक्तिमय ही गया तो कलाओं के क्षेत्र में भी वही विषय स्वीकार कर लिए गए। यही तथ्य भारतीय कला को ग्रात्मा है। लोकजीवन से पृथक् इन कलाओं की कल्पना नहीं की जा सकती।

मुगल काल में संगीत साहित्य में भी बहुमूल्य वृद्धि की गई। १५७० ई० में क्षेमकरण ने 'रागमाला' नामक ग्रन्थ लिखा। १६१० में सोमनाथ ने 'राग चिमोध' लिखा। इसके बाद थोनिवास पण्डित ने 'राग तत्त्व चिमोध' की रचना की। १६६० में हृदय नारायणदेव ने 'हृदय कौतुक' नामक एक

ग्रन्थ गन्ध लिखा। इसमें स्वरप्रकरण, रागों की परिभाषा और वर्गीकरण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया। १७वीं शताब्दी का सब से अधिक महस्त्वपूर्ण संगीत ग्रन्थ पण्डित अहोबल का 'संगीत पारिजात' था। इस प्रकार लिखित रागमूलीय पक्ष के हड़ आधार पर संगीत की प्रगति होती रही।

ओरंगजेब १६५८ में मुगल साम्राज्य के सिहासन पर बैठा। वह धर्मान्ध मुसलमान था और कदूर मुलता हाइटिकोण का पालन करता था। उसने अकबर द्वारा स्थापित सभी रीति-रिवाजों (जैसे भरोखा-दर्शन) को समाप्त कर दिया। उसने दरबार के ज्योतिषियों को भगा दिया और चित्रकारों को निकाल बाहर किया। उसका विचार था कि ये सब वातें उसके धर्म में वजित हैं। उसने दरबारी संगीतज्ञों की नौकरिया समाप्त कर दी और गानाबजाना बिल्कुल बन्द करा दिया। कहते हैं दरबार के गवैयों ने एक बड़े जुलूस का आयोजन किया और रोते-चिल्लाते हुए महल के नोंच से निकले। सच्चाद ने शोरगुल सुनकर पूछा—यह क्या है? उत्तर मिला कि संगीत मर गया है उसे दफनाने जा जाया जा रहा है। उसे अच्छी तरह गहरा दफनाया जाए जिससे फिर न निकले—ओरंगजेब ने निर्दयतापूर्वक मुस्करा कर कहलवाया। मुगल दरबार के संगीतज्ञ देशी राजाओं के यहाँ जाकर आश्रय लें हैं के लिए बाध्य हो गए। प्राचीन परम्पराओं को हड़ नीचों पर आधारित भारतीय कलाएं तो निरन्तर पलती रहीं किन्तु मुगल दरबार की शान-शौकत उजड़ गई। जिस मुगल दरबार में तालसेन दीपक-राग गाते थे वहाँ अब दक्षिण के युद्धों से हार कर लौटे हुए सेनापतियों की कक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। ओरंगजेब ने मृत्योपरान्त पाए जाने वाले एक स्वनिल 'बहिल' की खातिर श्रपने जीवन की प्रत्यक्ष सत्ता को ही नहीं, सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य को विनाश की अग्नि में झोक दिया। अकबर की व्यक्तिगत प्रेरणा के कारण इस विशाल राष्ट्रीय साम्राज्य का निर्माण हुआ था, ओरंगजेब की व्यक्तिगत धूरण के कारण यह साम्राज्य ढूल में मिल गया।

८

प्राचीन वास्तु परम्पराएँ

मोहनजोदड़ी में हड्ड्या संस्कृति के जो प्रवेशेष प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि भारत में इसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व भी पत्थर और इटों से सुहचिपूर्ण निर्माण होता था। वहां प्रावास-भवन और स्नानगृह मिले हैं और नालियों की अवस्था पाई गई है। यह यहां की प्राचीनतम् सम्पत्ता थी जिसका विकास वहां के मूल निवासियों के हाथों हुआ। कालान्तर में आर्य लोग बाहर से आए और देश के उत्तरी भागों में बस गए। वे लेतिहर थे और उन्होंने नगरों में रहना बहुत बाद में आरम्भ किया। शायद इसीलिए वेदिक काल (लगभग १५०० से ६०० इसा पूर्व) के वास्तुकाल सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिले हैं। इस युग में लकड़ी, बौंस और फूंस से निर्माण कार्य होता था। जंगलों की बहुतायत थी और यह सामग्री आसानी से उपलब्ध थी। साची और भारहुत के प्राचीन संस्थानों से इस बात के समुचित प्रमाण प्राप्त हुए हैं। वेदिका और तोरण यद्यपि पत्थर के हैं किन्तु वे लकड़ी की वेदिका और लकड़ी के तोरण की पद्धति पर बने हैं, और पत्थर में उनकी अनुकूलति ही नहीं, अनुवाद-सा प्रतीत होते हैं। उल्कीर्ण शिलापटों पर जो दृश्य अंकित हैं उनमें भी गौखें, प्रसादिकाएँ,

अण्डाकार छतें, खम्मे श्रीर छज्जे—सभी लकड़ी और बांस के प्राण हैं। अनुमान है कि मौर्यकाल से (लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) हमारे यहां पत्थर से निर्माण होना आरम्भ हुआ। किन्तु मूल प्रेरणा लकड़ी की रक्तना-विधि से होने के कारण, लकड़ी के तत्त्व हमारी स्थापत्य कला में थोड़ा बहुत बराबर बने ही रहे।

वैसे जैन लोग भी निर्माण-कार्य में बड़ी रुचि लेते थे और बहुत से प्राचीन जैन व्रवेशेष मछुरा से प्राप्त हुए हैं। इनमें एक जैन स्तूप का काल तो ७७३ ईसा पूर्व निश्चित किया है। किन्तु विघ्वत् रूप से वास्तुकाल को प्रोत्साहन सबसे पहले बुद्ध धर्म ने दिया। बड़े-बड़े स्तूपों की रचना हुई जिनमें साची, भारहुत और प्रमरावती के स्तूप मुख्य हैं। उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, उदाहरणार्थं पेशावर और चरसहा में भी बड़े-बड़े स्तूप बने जिनमें चूने और मूरगमय पट्टों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया। वास्तुकाल के विकास में बुद्ध धर्म का एक और बड़ा महत्त्व-पूर्ण योगदान था। इसके अन्तर्गत बड़ी-बड़ी भव्य गुफाएं खोदी गयीं जिनमें चैत्य और विहार बनाए गए। इनमें काट-काट कर सुन्दर गवाक्ष, खम्मोदार कक्ष और गज-पृष्ठाकार छतें ही नहीं बड़ी

सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ भी निर्मित की गयीं। इनकी रचना दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से ८वीं शताब्दी ईसा तक हुई। इनमें काली, काहेरी, भज, कान्दन, नासिक, पीतलखोड़ा, वेदगा और अजन्ता की गुफाएँ मुख्य हैं। इनमें लकड़ी के तत्त्वों का स्पष्ट परिचय मिलता है। जैसे, लकड़ी के सम्भों को दीमक से बचाने के लिए उनके आधार में घड़ों का प्रयोग होता था वैसे ही खम्भे ज्यों के त्यों काली में बने हैं। इसकी छत भी गजपृष्ठाकार है जैसी लकड़ी और बास की छत बनाई जाती थीं। उसमें कहीं-कहीं तो बास्तव में लकड़ी की शलाकाएँ लगाई भी गयी हैं जो अभी जोश है। चट्टानों को काटकर बनाई गई इस कृति में बाहर से लकड़ी या पत्थर लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह बात प्रमाणित करती है कि पत्थर का युग आ जाने पर भी स्वपति को लकड़ी के तत्त्वों की याद नहीं भूली थी और वह उनका प्रयोग कर रहा था। अजन्ता की सुन्दर गुफाएँ इस युग की अद्भुत कृति हैं। इनमें बड़े सुन्दर चित्र बने हैं जिनमें बुद्ध की जातक कबाहँ अंकित हैं। भारतीय कलाओं के विकास में अजन्ता का महत्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दुओं के वेष्णव और शंख मन्दिर का विकास गुप्त काल (३५०-६५० ई०) में हुआ। उपास्य देव की प्रतिमा एक छोटे से कक्ष में विराजमान की गई। इसे गर्भ-गृह कहा गया। इसके बाहर खम्भों-दार एक खुला हुआ बरामदा बनाया गया। हिन्दू मन्दिर की यह मूल योजना थी। देवगढ़, वर्वासागर और भूमरा के मन्दिर इसी युग के हैं। बाद में इसमें मण्डप, अर्धमण्डप और प्रदक्षिणा पथ जोड़ दिए गए और इस प्रकार इसकी रचना-विधि का विकास हुआ। धीरे-धीरे शिखर पल्लवित हुआ और दसवीं शताब्दी तक हिन्दू मन्दिर एक भव्य प्रासाद बन गया। खजुराहो के मन्दिरों में इसका चरमोत्कर्ष प्रकट हुआ। उडीसा और दक्षिण में यही गोजना विविध रूपों में विकसित हुई। दक्षिण में शिखर का स्वरूप बदल गया। वहाँ या तो अण्डाकार शिखर का प्रयोग हुआ या गोपुरम् बनाए गए। जैसों ने भी इसी विधि को अपनाया और उनके मन्दिर भी मूल रूप से इसी योजना पर बने। गुजरात में लकड़ी

का प्रयोग बहुत होता था और वही लकड़ी की रचना-विधि से प्रेरित तत्त्वों का बहुल्य बराबर बना रहा। इनमें तोरण, प्रसादिकाएँ और वित्तिजाकार, कमशः छोटी होती हुई, (Corbelled) छत उल्लेखनीय हैं।

हमारे यहाँ इंटों से भी निर्माण कार्य होता था। हृष्णन संस्कृति में भी इंटों को रचना के प्रमाण मिले हैं। रूपों में भी इंट लगाई जाती थीं, जैसे मीरपुरखास, मालोट, काफिरकोट आदि। गुप्तकाल में और उसके बाद इंटों के बड़े-बड़े मन्दिर बने जिनमें भीतरगांव, परावली, कुरारी, बोधगया, राजशाही, सीरपुर और पुजारीपाली के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहीं-कहीं इनमें त्रिज्याकार महराब और दुहरे भुम्बद का भी प्रयोग किया गया। इनमें अलकरण कटी हुई इंटों या मूरामय पट्टों (Terracotta Plaques) से किया जाता था। इस वर्ग में भीतरगांव का मन्दिर मर्त्त्यकृष्ट कृति है।

इस्लाम के भारत में आने से पहले ही हमारे नहां बास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष तक पहुंच गई थी और विश्व प्रसिद्ध बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। इनमें मामल्लापुरम् के सुन्दर रथ, पट्टादकिल का बीलक्षण का मन्दिर, कांजीवरम् का कैलाण-मन्दिर, तंजोर का वृहदेश्वर मन्दिर, औसिया और किराह के मन्दिर, मुहूरा का सूर्य मन्दिर, आदू के जैत मन्दिर, खजुराहो के मन्दिर, खालिपर का खहस्त्रवाहु का मन्दिर और भुवनेश्वर के लिगराज और मुकेश्वर के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पत्थर के इन भव्य प्रासादों में बड़े सुन्दर शिखर बनाए गए। इनमें देवी-देवताओं, और स्त्री-युवती की मूर्तियों का ब्रलंकरण के लिए भी प्रयोग हुआ। मन्दिर के साथ-साथ मूर्तिकला तो भी विकास हुआ और उसने धीरे-धीरे कलात्मकता के चरम आदर्शों को पा लिया। विशेषकर खजुराहो के मन्दिरों की मूर्तियाँ बोलती हुई-सी प्रतीत होती हैं। उनमें भावों को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। पाण्डात्य संसार में युनानी मूर्तिकला को बड़ी रूपाति है किन्तु युनानी मूर्तियाँ मानव शरीर की ऊँओं की तर्ही तर्ही अनुकूलि के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। वे जैसे

फोटो प्रतिलिपि हों। उनमें जीवन नहीं है। वज्राग्रहों की मूर्तियाँ जीवित-सी लगती हैं। भावों के अनुकूल शरीर के विभिन्न भंगों को कलाकार ने जिस तरह से भौंडा-तोड़ा है उससे ऐसा लगता है कि ये पत्थर की नहीं हैं। पत्थर के काम में भारतीय कलाकार इतना अधिक दक्ष हो गया था कि वह इसे मोम की तरह से काट छाट कर इच्छित भाव को सही-सही अंकित कर सकता था।

स्थापत्य में पत्थर का व्यापक प्रयोग होता था। पत्थर के खम्भे या दीवारें, पत्थर की छतें और पत्थर का ही शिल्प बनता था। पत्थर के ही छज्जे लगाये जाते थे। बड़ी-बड़ी शिलाएँ उपलब्ध थीं और उनसे विविध विधियों से छतें पाटी जा सकती थीं। कहों-कहों तो पत्थरों को एक के ऊपर एक बिना चूने-मसाले के रखकर निर्माण कर लिया जाता था। पत्थर के काम में भारतीय कारीगर अत्यन्त निपुण था और परम्परागत पत्थर से ही निर्माण कार्य करता था। यहाँ यह स्मरणीय है कि यद्यपि हमारे यहाँ महराव बनाये जाते थे और भीतर गांव के मन्दिर में उसके प्रमाण उपलब्ध हैं फिर भी महराव बनाने का हमारे यहाँ रिवाज़ नहीं था। महाराव पर भारतीय कारीगर भरोसा नहीं करता था। इसके अतिरिक्त पत्थर में रचना करना उसे कहीं अधिक आसान लगता था। फिर पत्थर में वह उन अलंकरणों का उपयोग कर सकता था जिनका इंट और चूने में प्रयोग करना सम्भव नहीं था।

इस्लाम के आने से पहले हमारे यहाँ वास्तुशास्त्र पर बड़े-बड़े सन्ध्य लिते जा चुके थे। इनमें मानसार और समरांगण सूवधार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वास्तुकला की एक बृहत् वास्तुविधा बत गई थी। मन्दिर के छोटे से छोटे तल्लों का भी विवेचन किया जा चुका था और निर्माण सम्बन्धी एक-एक बात के निश्चित मानदण्ड स्थापित हो चुके थे। शास्त्रीयकरण की यह स्थिति कला की अत्यन्त विकसित अवस्थाओं के साथ-साथ ही सम्भव होती है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ मुसलमानों के आगमन के समय वास्तुकला बहुत अधिक उन्नतावस्था में थी और उसकी परम्पराएँ बड़ी गहरी और हड़ थीं।

प्राचीन वास्तुकला के कुछ विशिष्ट तत्त्व सारांश में इस प्रकार थे:—

- (१) इसमें पत्थर का व्यापक प्रयोग होता था जिसमें खम्भे, उद्धर, तोड़े, छज्जे आदि से रचना की जाती थी। वे तत्त्व मूलरूप में काष्ठ-कला से प्रेरित थे।
- (२) यह रचना विधि समतल (थैंडिज Trabecate) थी। बोझ को लम्बवत् रखने की अपेक्षा समतल (Horizontal) रखा जाता था।
- (३) यह कला धार्मिक भावना से प्रेरित थी। कला, कला के लिए न होकर जीवन का विशिष्ट ग्रंथ थी। जीवन की अन्य गतिविधियों को तरह वह भी मोक्ष का साधन थी। भारतीय जीवन से पृथक् इस कला की कल्पना नहीं की जा सकती और इसीलिये जिन्हें भारतीय जीवन और उसमें व्याप्त धार्मिक भावना का ज्ञान नहीं होता है वे इस कला को नहीं समझ पाते हैं। यह कला दरबारी कला नहीं थी। जनजीवन से अभिन्न रूप से सम्बद्ध यह कला मुख्यतः लौकिक (Folk-Art) थी। इस कला का व्येय किसी व्यक्तिविशेष की रूचियों का प्रदर्शन करना नहीं, जन-जीवन की धार्मिक भावना को साकार करना था।
- (४) यह कला भद्र कृत थी। जन-जीवन में जो कुछ शुभ है उसका वह प्रदर्शन करती थी। सत्य शिव सुन्दरस् के सिद्धान्त पर इसका विकास हुआ था। कमल, चक्र, स्वास्तिक आदि सभी चित्र शुभ मानकर कला के क्षेत्र में स्वीकृत किये गये थे। इसी प्राधार पर अष्टमंगल चित्रों का सूत्रपात हुआ था। कीर्तिमुख आदि अलंकरण के सभी रूपक इसी आदर्श को सामने रख कर प्रयोग किये जाते थे।
- (५) यह कहना सही नहीं है कि भारतीय वास्तु में अलंकरण को प्रधानता दी गयी है। चित्र और शिल्प सदैव ही वास्तु के

अधीन वे और मूल वास्तु-योजना के अनुकूल ही उनका विद्यान होता था। पश्चिम की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों से मन्दिर के अलंकरण की भारतीय वास्तु की अपनी पद्धति है। मूर्तियाँ ललित भावों का प्रदर्शन करती हैं। अपने आप में पुराणे लगने वाली यह मूर्तिकला वास्तु का अभिन्न अंग है और वास्तु से प्रथक् इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

(६) भारतीय वास्तु में तालमान निर्धारित थे और इन शास्त्रीय मानदण्डों का पालन करता आवश्यक था। ये मानदण्ड सौन्दर्यंशास्त्र के आधार पर बनाये गए थे। इन मानदण्डों के न मानने का अर्थ केवल यही था कि इनका के अनुपात विगड़ जाते थे और इमारत असुन्दर लगने लगती थी। वास्तव में इन तालमानों में ही भारतीय वास्तुकला के सौन्दर्य का रहस्य छिपा हुआ है।

६

सल्तनत काल की वास्तुकला

(१) गुलामवंश की इमारतें (१२०६-१२६० ई०)

११६२ में तराहत के द्वितीय युद्ध के परिणाम-स्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। दिल्ली और अजमेर के प्रदेश तुकों के अधिकार में आगए। वे अपने साथ अपना एक अलग घर्म, अपनी साम्राज्यिक व्यवस्था और कला के अपने मानदण्ड लेकर आए। हिन्दू-घर्म व्यक्तिगत उपासना को प्रधानता देता है। उपासक अव्यक्त से प्रतीकों के माध्यम से भक्ति के द्वारा सम्पर्क स्थापित करता है। जीवन का लक्ष्य निर्वाण हो या मोक्ष—वह चुपचाप अकेले बैठकर ध्यानस्थ होकर सृष्टि के चरम सत्य का अनुभव करना चाहता है। इस भावना के अनुरूप ही उसके धार्मिक संस्थान होते हैं। उदाहरण के लिए मन्दिर में गर्भगृह जहां उपास्यदेव की प्रतिमा विराजमान होती है एक छोटा-सा, तंग, अंधकारमय कक्ष होता है। इस्लाम में इसके विपरीत सब मिलकर एक साथ एक निश्चित प्रणाली से नियमपूर्वक नमाज पढ़ते हैं और इसलिये मस्जिद में बड़े-बड़े खुले हुए कक्ष, दालान और आंगन होना आवश्यक होता है। दिल्ली पर अधिकार होते ही सहृदयियों के लिए एक मस्जिद बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। तुकों की सेवा में कुछ मुल्ला मौलवी तो धार्मिक कार्यों के लिए थे किन्तु कलाकार एक भी नहीं था। परिणामस्वरूप उन्हें भारतीय कारोगरों से ही काम लेने के लिए विवश होना पड़ा। २७

हिन्दू और जैन मन्दिरों को तोड़कर उन्होंने दिल्ली में एक काम-चलाऊ मस्जिद बनाई जिसका नाम 'कुन्वत-उल इस्लाम मस्जिद' (इस्लाम की शक्ति प्रदर्शित करने वाली मस्जिद) रखा गया। प्राचीन ऊची चौकों को ज्यों का त्यों रहने दिया गया। पूर्व, उत्तर और दक्षिण की ओर खम्भोदार दालान और उनके मध्य में हार बनाये गए और पश्चिम की दीवार में किवला दिया गया। मन्दिरों से प्राप्त पत्थर के खम्बे, उदम्बर, छायांशिलाएँ और अन्य सामग्री से ही इस मस्जिद का निर्माण हुआ। ऊचाई बढ़ाने के लिये दो-दो खम्बों का प्रयोग किया गया। हिन्दू मन्दिरों जैसी अलंकृत छतें भी बनाई गईं। अभिलेखों के अनुसार ११६७ ई० में यह मस्जिद बनकर तैयार हो गई। ११६६ में कुतुबुद्दीन ऐवक ने इसके पश्चिम में मकसूरा बनवाया जिसमें मध्य में मुरुग महराव था और दोनों ओर दो-दो छोटे महराव थे। इस प्रकार आराधना स्थान (Sanctuary) बन गया (चित्र-२८)। बाद में इल्तुत-मिङा ने किवले की दीवार में बड़े सुन्दर विशाल महराव बनवाएं जो हिन्दुओं की समतल पद्धति (Trabeate System) पर बने और जो सही अर्धों में विज्याकार (Arcuate) नहीं हैं। किंतु महराव और गुम्बद इस्लाम की कृतियों में, विशेषकर मस्जिद में, विशिष्ट प्रतीक माने जाते थे और चाहे वे आलंकारिक हों उनका मस्जिद में होना आवश्यक

था। जिन भारतीय कारोगरों को इस काम में लगाया गया शायद वे त्रिज्याकार महराव नहीं बनाते थे और उन्होंने अपनी पढ़ति से ही उनका निर्माण किया।

गुलामवंश (१२०६-६०) की पहली इमारत जिसमें तोड़े हुए मन्दिरों से प्राप्त सामग्री का प्रयोग नहीं हुआ बरन् प्रत्येक पत्थर की रचना इसी ध्येय को सामने रखकर की गई—कुतुबमीनार है। इसे कुतुबुद्दीन ने ११६६ में बनवाना प्रारंभ किया और उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने १२१२ में पूरण कराया। यह व्यजस्तम्भ की तरह पत्थर की एक मीनार है जिसमें मूलरूप से चार मजिले थीं। बाद में फिरोज तुगलक ने पांचवीं मजिल बढ़ावी और अब इसको कुल ऊँचाई २२८ फीट है। इसमें ३६० सीढ़ियां हैं। यह गोल है और गजराकार है अर्थात् ऊँचाई बढ़ने के साथ साथ इसका व्यास कम होता जाता है और यह छोटी होती जाती है। सबसे नीचे की मजिल में गोल और नुकील दाते हैं, दूसरे में केवल गोल धारियां हैं, तीसरी में फिर त्रिकोणात्मक नुकील दाते हैं, चौथी बिल्कुल गोल है। प्रत्येक मन्जिल में एक छुर्जेदार प्रालिन्द (Balcony) बनाई गई है जिसमें निच्यावासम (Stalactite) का प्रयोग हुआ है (चित्र-२६)। एक रूप अरबी अक्षरों में पत्थर में लोदी गई कुरान की आयतों के अतिरिक्त ये निच्यावासम भी कुतुबमीनार के विशिष्ट अलंकरण हैं। शहद की मक्खी के छते जैसा इसका रूपांकन छज्जे की छाया में बड़ा सुन्दर लगता है। हमारे यहां इसका प्रयोग कुतुबमीनार के साथ ही आरम्भ हुआ।

यह कहना सही नहीं है कि मूल रूप से इसे हिन्दुओं ने बनवाया था और तुकों ने इसे मीनार में परिवर्तित कर लिया। न तो यह वाराह-मिहिर की वंधगाला का कोई निरोक्षण-स्तम्भ है न पृथ्वीराज का पमुना-स्तम्भ। पुरातत्त्व, वास्तु और लिखित प्रमाणों से यह सिद्ध ही जाता है कि इसका निर्माण कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश ने ही कराया।

एक और भान्ति इसके विषय में प्रचलित है कि यह मस्जिद का मजीना थी अर्थात् यहां से नमाज का समय होने पर आज्ञान दी जाती थी। यह सम्भव नहीं है कि मुग्जज्जन प्रतिदिन पांच बार

इस मीनार पर चढ़ता उतरता और आज्ञान देता। न ही वहां से आज्ञान का शब्द सुनाई दे सकता है। बास्तव में इसे किसी काम में लाने के लिये नहीं बनवाया गया है। यह प्रतीकात्मक कृति है और इसके बनवाने का ध्येय नए जीते हुए प्रदेश के निवासियों को इस्लाम की शक्ति और वेभव से चमत्कृत करना था। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि १३६७ में फिरोज तुगलक ने अम्बाला से लाकर अशोक की एक विशाल लाट को कोटला फिरोजशाह में ठोक अपनी जामी मस्जिद के सामने स्थापित किया। उसका नाम 'मिनारा-ए-जरीन' (सोने की मीनार) रखा गया। यहां इसे खड़ा करने का ध्येय किसी उपयोग में लाना नहीं था। यह भी एक प्रतीकात्मक रचना थी। हमारे यहां बुढ़े चैत्यों, जैन और हिन्दू मन्दिरों के सामने व्यजस्तम्भ बनाये जाते थे जिन पर धर्मचक्र या उस देवता का वाहन सूचक के रूप में विराजमान होता था। अनुमान है कि इसी से प्रेरणा लेकर कुतुबमीनार का प्रतीकात्मक निर्माण हुआ। चन्द्र के लौह-स्तम्भ को लाकर मस्जिद के प्रांगण में ठोक किबला के सामने गाड़ने का भी भला और क्या ध्येय हो सकता है।

मुल्तानगढ़ी नामक मकबरा इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद (ज्येष्ठ) की सृति में १२३१ ई० में बनवाया। इसकी प्राचीरे दुगं के परकोटी की तरह हड़ और विशाल हैं और इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि उस समय तुकं लोग अपने आपको भारत में कितना असुरक्षित समझते थे और मकबरों को भी किलों की तरह हड़ बनाते थे। इसके अन्दर वगाकार एक विशाल आंगन है जिसके मध्य में एक ग्रठपहलू चबूतरा है। इसके नीचे भूगर्भ में कब्र है। अनुमान है कि चबूतरे के ऊपर एक पाविलियन (Pavilion) मूलरूप से रहा होगा जो कालान्तर में नष्ट हो गया।

इस आंगन के पूर्व और पश्चिम की ओर खम्भोदार दालान है। पश्चिम वाले दालान के मध्य में मुख्य कक्ष पर मुम्बद है और दीवार में किबला (महराव) बनाया गया है जो वहां मस्जिद होने का सूचक है। केवल यह महराव ही वहां मुस्लिम तत्त्व है, नहीं तो खम्मे, तोड़े, उत्कोण शिलाएँ, छतें आदि सभी तत्त्व विशुद्ध भारतीय हैं।

स्पष्ट ही इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री को उपयोग में लाया गया है।

इल्तुतमिश का मकबरा गुलामवंश की इमारतों में सबसे अधिक अलंकृत इमारत है। इसकी रचना १२३६ में इल्तुतमिश की मृत्यु के आसपास हुई। यह एक विशाल, वर्गाकार कब्र है जिसके तीन और मध्य में द्वार दिये गए हैं। पश्चिम की दीवार मक्का की दिशा सूचित करने के लिये बन्द कर दी गई है और वहाँ किंबला बनाया गया है। रचना हल्के पीले रंग के पत्थर में की गई है। मकबरे के अन्दर व्यापक स्तर पर पत्थर में खुदाई का काम किया गया है। इसमें कुरान की आयतों को मुन्दर अरबी अक्षरों में खोदकर भी अलंकरण किया गया है और साथ-साथ अर्ध चक्र, कमल आदि विशुद्ध हिन्दू रूपक (Motifs) भी बनाये गए हैं। रेखाङ्कित डिजाइनों और आलंकारिक मेहराबों का भी प्रयोग हुआ है। पत्थर में खुदाई की कला में भारतीय कारीगर विशेष पारंगत था और यहाँ उसने अपनी निपुणता का बड़ा मुन्दर प्रदर्शन किया है।

इस मकबरे में कोण-महराबों (Squinch) का चारों कोनों में प्रयोग किया गया है और इस विधि से वर्गाकार कक्ष को ऊपरी भाग में अठपहलू योजना में परिवर्तित कर दिया है। प्रत्येक कोने पर फिर पत्थर रखकर इसे १६-पहलू बनाया गया और फिर इसके ऊपर मुस्लिम चाप वक्र (Arcuate) पढ़ति से ही एक गुम्बद का निर्माण किया गया। यह गुम्बद कालान्तर में गिर गया। अनुमान है कि भारतीय कारीगरों ने यहाँ इस विधि से गुम्बद बनाने का पहली बार प्रयोग किया था और कक्ष के अनुपात से वे गुम्बद को आवश्यक ऊंचा नहीं बना सके और यह गुम्बद इसलिये स्थाई नहीं रह सका। कोण महराब और गुम्बद का इस मकबरे में प्रयोग वस्तुतः दोनों शैलियों के सम्मिश्रण की ओर इंगित करता है।

(२) खिलजी युग की इमारतें (१२६०-१३२० ई०)

इल्तुतमिश के वंशज अपने झगड़ों में उलझे रहे। बलबन के सामने भंगोलों से निपटने और मुल्तान के पद की मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने की समस्याएं थीं और उसे भवन-निर्माण की ओर

ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिला। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली-सल्तनत का इसके पश्चात् एक प्रतापी मुल्तान हुआ। उसके राज्यकाल (१२६६-१३१६ ई०) की दो प्रमुख इमारतें देख रहे गई हैं—कुतुबमीनार के पास अल्लाई दरवाजा और जमातखाना मस्जिद जहाँ बाद में हज़रत निजामुद्दीन औलिया की समाधि बनी।

अलाउद्दीन ने कुब्बत-उल-इस्लाम मस्जिद में और विस्तार कराया और किंवल की दीवार बढ़ाई। उसने कुतुबमीनार से भी बड़ी एक भीनार बनवाना आरम्भ किया जो किन्हीं कारणोंवश नहीं बन सकी। उसने अल्लाई दरवाजा भी इस मस्जिद के दक्षिणी द्वार की तरह से बनवाया। यह १३०५ में पूर्ण हुआ। इल्तुतमिश के मकबरे के समान यह भी वर्गाकार है किन्तु इसमें लाल पत्थर के साथ-साथ अलंकरण के लिये श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। इसके चारों ओर सौढ़ियोंदार चार द्वार हैं जिनमें नुकीले महराबों का प्रयोग किया गया है। यह त्रिज्याकार महराब हैं। प्रत्येक महराब के नीचे बर्द्धी के कलां की माला दो गई है जिससे महराब का सौन्दर्य कई गुना बढ़ जाता है। (चित्र-३०) महराबों के नीचे पतले-पतले कमनीय स्तम्भ बनाये गये हैं जो बोझ तो उतना नहीं संभालते हैं जितना शोभा बढ़ाते हैं। इनकी कटाई देखते ही बनती है और सहज ही हिन्दू मन्दिरों की कला का समरण करती है।

अल्लाई दरवाजा यथापि एक ही मंजिल की इमारत है किन्तु बाहर की ओर से इसकी दीवारों को दो मंजिलों में दिखाया गया है और उनमें संगमरमर के साथ सुन्दर कटाई का काम किया गया है। महराबों के साथ-साथ धूमती हुई अरबी अक्षरों में कटी कुरान की आयतें बड़ी भली लगती हैं। इसमें कोण-महराब का प्रयोग हुआ है और उनके आधार पर एक उपयुक्त गुम्बद बनाया गया है। यहाँ देख इमारत पत्थर की है जिसे निस्सन्देह भारतीय कारीगरों ने सजाया है, गुम्बद चूने का बनाया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि मूलरूप से इस पर चीनी टाइल्स का चटकीले रंगों वाला अलंकरण किया गया था। अल्लाई दरवाजा

सल्तनत काल में निर्मित एक उत्कृष्ट हुआ है। जहाँ पत्थर में खुदाई की कला का श्रेय भारतीय कलाकारों को मिलता है। इसमें कोण-महराब और गुम्बद जैसे मुस्लिम तत्वों का भी सफल प्रयोग हुआ है। १५वीं शताब्दी के बगाकार मकबरों ने अल्लाई दरवाजे से प्रेरणा ही नहीं ली, इसके रचना-विन्यास का अनुकरण किया और इस इमारत से अल्लाई दरवाजा सल्तनत काल में बास्तुकला के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

जमातखाना मस्जिद भी लाल पत्थर की है। यह आयताकार है। मुख्य कक्ष में मिम्बर और किंवला है और इसके दोनों ओर उपकक्ष हैं। कोण-महराबों द्वारा गुम्बद बनाये गये हैं। इन पर बड़े सुन्दर पट्टकोश, आमलक और कलश जैसे विशिष्ट हिन्दू तत्व हैं जो गुम्बद के सौन्दर्य में चार चौंद लगा देते हैं। इसके महराब भी अल्लाई दरवाजे जैसेही नुकोले और अलंकृत हैं। अल्लाई दरवाजे जैसी ही पत्थर में सुन्दर खुदाई का काम किया गया है जिसमें धर्मी अकारों के रूपांकनों की बहुतायत है। इसमें सन्देह नहीं है कि छोटी-सी यह मस्जिद बड़े सुलचिपूर्ण ढंग से बनाई गयी है और अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से अलंकृत इमारतों में गिनी जाती है। यह उस युग की भी परिचायक है जिसमें ऐसी सुन्दर मस्जिद का बनाना सम्भव हुआ।

(३) तुगलक कालीन इमारतें (१३२०-१४११ ई०)

तुगलक बंश के संस्थापक भयासुदीन तुगलक का मकबरा इस काल की बड़ी सुन्दर इमारत है। यह दिल्ली में तुगलकाकाद में स्थित है। इसका निर्माण १३२५ में हुआ। यह मकबरा एक बड़ी कुत्रिम भील के मध्य में बढ़ान पर स्थित एक छोटे से दुर्ग में बनाया गया है। दुर्ग में जाने का मार्ग एक तंग कंचे रास्ते द्वारा है और इस ढंग से किले को प्रभेद बना दिया गया है। इससे फिर उसी भावना का परिचय मिलता है जिसमें दिल्ली के जासक अपने आपको असुराधित समझते हैं और स्मारकों को बांगों में बनाने की अपेक्षा किलों में बनाना अधिक पसन्द करते हैं।

यह मकबरा भी बगाकार (चित्र-३१) है और इसमें भी लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का प्रयोग

हुआ है। इल्लुतमिश के मकबरे की तरह ही परिचमी दीवार किंवले के लिये बन्द कर दी गई है। शेष तीनों और मध्य में द्वार दिये गये हैं। इन द्वारों में एक नयी विशेषता देखने को मिलती है। इसमें मुस्लिम महराब (Arch) के साथ-साथ भारतीय उदम्बर (Lintel) का भी प्रयोग किया गया है। पत्थर की यह जिला बोझ को अधिक सहारा नहीं देती और स्पष्ट ही यह सौन्दर्य के लिये लगाई गई है। अनुमान है कि यह नया विवाह भारतीय कारीगरों ने सुकाया जो कभी भी महराब पर भरोसा करने को तैयार नहीं होते थे और परम्परागत पद्धति पर ही रचना करते चाहते थे। जैसे-जैसे उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलती गई थे भारतीय तत्वों को जोड़ते चले गये। उदम्बर के प्रयोग से प्रत्यक्ष द्वार का सौन्दर्य निखर उठा है। उसमें अल्लाई दरवाजे जैसी बर्धों के फलों की माला भी बनाई गई है। महराब का मध्य विन्दु भारतीय कीर्तिमूल जैसा चुमावदार (Ogee Curve) बनाया गया है।

इसके विपरीत एक विदेशी तत्व भी इस मकबरे में देखने को मिलता है। इसकी बाहरी दीवारें सीधी, लम्बवत् नहीं हैं, उनमें ढाल दिया गया है। ढाल की मात्रा मिश्र के पिरामिडों जैसी नहीं है, बहुत कम है और समस्या दी गई है। अन्दर कक्ष में यह ढाल नहीं है। कोण-महराबों द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। यह एकहरा गुम्बद इमारत को बड़े सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से प्राच्छादित किये हुए है। इस गुम्बद पर भारतीय आमलक और कलश बनाये गये हैं जिनसे यह और भी अधिक सुन्दर लगता है। मन्दिर के शिखर की तरह गुम्बद भी इन इमारतों को जैसे मुकुट पहनाता है।

इस प्रकार इस इमारत में भारतीय और मुस्लिम दोनों तत्वों का बड़ा मनोरम समामेलन हुआ है। महराब के साथ उदम्बर लगाया गया है, कोण-महराबों के साथ तोहों (Brackets) का प्रयोग है और गुम्बद पर आमलक और कलश का उपयोग हुआ है। बास्तुत यहीं से सही अर्थों में एक मिथित शैली का प्रारंभ होता है जिसका चरमोत्तम युगलों के स्वरूपकाल में हुआ।

फिरोज तुगलक का मकबरा १३८८ में बना। फिरोज कट्टर धार्मिक हण्ठिकोण का पक्षपाती था और बातावरण के प्रभाव से इस्लाम में जो भारतीय तत्त्व छुलमिल गये थे उन्हें निकाल देना चाहता था। धर्म के मामले में ही नहीं बास्तुकला में भी उसकी धार्मिक पक्षपात की नीति का परिचय मिलता है। भारतीय कारीगर पत्थर के काम में दक्ष था इसलिये उसने अनगढ़ पत्थरों और चूने की इमारतें बनवाईं जिससे भारतीय कारीगर को अपनी परम्परागत शैली में काम करने का कम से कम अवसर मिले। चूने में इमारतें बनवाने से शुद्ध मुस्लिम रगीन विधियों से ग्रलंकरण करने की भी सुविधा होती थी। फिरोज के मकबरे में इस प्रकार पत्थर का काम बहुत कम है अधिकांश चूने की रचना है। इसमें भी बाहरी दीवारों में दाल दिया गया है। लेकिन वह बहुत कम है।

इसमें दो द्वार हैं। द्वार बनाने की बड़ी मुन्द्र विधि इस युग तक विकसित हो गयी थी। सामने के भाग को कुछ आगे बढ़ाकर उसमें एक विशाल महराब की आकृति बनाई जाती थी। इसमें फिर आवश्यक ऊँचाई का द्वार बनाया जाता था। फिरोज तुगलक के मकबरे के द्वार में उदम्बर और भारी तोड़े काम में लाये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये तत्त्व इतने अधिक प्रबलन में आगये थे कि उन पर आपत्ति नहीं होती थी। मकबरे के घन्दर कोण-महराबों के प्रयोग द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। बाहर की ओर गुम्बद एक अठपहलू आधार (Drum) पर बनाया गया है। इस पर आमलक या कलश जैसे हिन्दू तत्त्व नहीं हैं। मकबरे के बाहर पत्थर की एक बेदिका (Railing) मध्यरा और सांची की प्राचीन पट्टि पर अवश्य बनाई गयी है जो इस कट्टर सुन्नी सुल्तान के मकबरे में बड़ी आकर्षणीय बनायी है।

भारतीय कलाकार ने इससे कुछ पहले एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रयोग किया। गुम्बद बनाने की आवश्यकता से अब इन्कार नहीं किया जा सकता था। किन्तु बग़ीकार कक्षों के ऊपर गोल गुम्बद बनाने में बड़ी कठिनाई होती थी और कोण-महराबों आदि का प्रयोग करना पड़ता था। धीरे-धीरे यह

अनुभव किया गया कि यदि इमारत ही अठपहलू (Octagonal) बनायी जाये तो उस पर गुम्बद बनाना बड़ा सुविधाजनक होगा। अतः १३६७-६८ में खान-ए-जहान तेलंगानी का मकबरा अठपहलू बोजना पर बनाया गया। मुख्य कक्ष अठपहलू रखा गया और उसके बाहर आठों और छुला बरामदा बनाया गया। प्रत्येक भुजा में तीन महराब दिये गये और सब तरफ ऊपर छज्जा ढका गया। प्रवान गुम्बद के आठों और आठ लघु गुम्बद (Cupola) बनाये गये। पत्थर का व्यापक प्रयोग किया गया।

यह मकबरा मध्यकालीन वास्तुकला के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इसमें बहुत से तत्त्वों का प्रयोगात्मक रूप में उपयोग हुआ है फिर भी यह सलतनत युग की इमारतों में बहुते हुए भारतीय प्रभाव का सूचक है। छज्जे द्वारों में उदम्बर और तोड़े, गुम्बद पर आमलक और कलश आदि का प्रयोग इसी दिशा में संकेत करता है। इस मकबरे से ही बाद में संस्कृदों, लोदियों और सूरों के सुन्दर और विशाल अठपहलू मकबरों का विकास हुआ।

ऐसा लगता है कि फिरोज तुगलक भरसक प्रयत्न करके भी मुस्लिम और हिन्दू शैलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया को रोक नहीं सका। जिन इमारतों की वह स्वयं बनवाता था उनमें वह भारतीय तत्त्वों को नियन्त्रण में रख सकता था, किन्तु अन्य इमारतों में ये तत्त्व खुलकर प्रकाश में आ जाते थे। संस्कृतियों के समामेलन की यह भावना इतनी स्वाभाविक थी कि इसे रोक पाना फिरोज तुगलक या किसी के बास की बात नहीं थी।

फिरोज तुगलक के राज्यकाल में कुछ बड़ी मस्जिदें भी बनवाई गयीं। ये दो प्रकार की थीं। एक परम्परागत योजना के अनुसार बनाई जाती थीं जिसके बीच में एक विशाल आगन होता था और तीन तरफ दालान। मुख्य द्वार पूर्व की ओर होता था, उत्तर और दक्षिण की ओर भी उपद्वार बनाये जा सकते थे। आगन के पश्चिम की ओर एक विशाल इमारत के रूप में आराधना भवन (Sanctuary) होता था जिसमें मुख्य कक्ष में किवला और मिम्बर होते थे। दालान और आराधना

भवन के सभी मुख महराबों द्वारा बनाये जाते थे। मुख्य कक्ष का मुख्य द्वार एक विशाल महराब होता था जिसे ईवान (Iwan) कहते हैं। इसके दोनों ओर सम्बद्ध गजंराकार मीनारे (Tapering Turrets) होते थे। छत पर गुम्बदों का प्रयोग होता था। सबसे बड़ा गुम्बद आराबना भवन के मुख्य कक्ष पर होता था। कोटला फिरोजशाह की जामी मस्जिद, काली मस्जिद और वेमपुरी मस्जिद इसी (चित्र-३२) वर्ग की मस्जिदें हैं। इनमें खम्भों और छज्जों का प्रयोग तो हुआ है किन्तु रचना मूलरूप से अनगढ़ पत्थर और चूने में है। चूने का मोटा प्लास्टर सब और किया गया है जिस पर मूल रूप से शायद रगोन अलंकरण किया गया होगा और जो अब काना पड़ गया है।

दूसरे वर्ग की मस्जिदें 'कलां' और 'बिड़की' मस्जिद (चित्र ३३, ३४) हैं। इनको चार भागों में बांटा गया है। प्रत्येक भाग में एक खुला आंगन और उसके नारों और दालान दिए गये हैं। इनमें लघु-गुम्बदों (Cupolas) का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है और खम्भों या छज्जों का संवेदा अभाव है। अनुमान है कि ये मस्जिदें किसी बिदेशी प्रेरणा के फलस्वरूप बनाई गई और इनमें कोई भी भारतीय तत्व नहीं आने दिया गया। किन्तु यह योजना चली नहीं। फिरोज के ही राज्यकाल में परम्परागत मस्जिदों का निर्माण हुआ और उसके बाद तो 'चतुरांगण' मस्जिदें बनाई ही नहीं गईं।

फिरोज तुगलक की मस्जिदों की एक अपनी अनुग्रहीत अवधी है। उनमें चूने का प्रयोग है और बाहरी दीवारों पर विभिन्न विविधों द्वारा ढाल दिया गया है। रेखांकन, ग्रनेटी आवतों और ग्रनेटी लिपि से मिलते-जुलते (Arabesque) अलंकरण चूने में किये गये हैं और भारतीय पत्थर की खुदाई और रूपकों को बयासम्भव बहिष्कृत रखा गया है। पदमकोण, आमलक, कलश, छत्री, छज्जा, तोड़े आदि भारतीय-तत्त्वों का भी प्रयोग नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप ये इमारतें भट्ठी और बदमूरत लगती हैं और उस युग की परिचायक है जिसमें इस्लाम के कट्टर हिन्दूकोण के अनुसार जासन किया गया और राज्य को धार्मिक अत्याचार का

साधन बना दिया गया। इनका देश की संस्कृति या मध्यकालीन वास्तुकला के विकास की मुख्य घटाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) संघर्षों, लोदियों और सूरों की इमारतें

(१४११-१५४५ ई०)

१५-१६वीं शताब्दी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। १३६८ में तैमूर के हमले ने तुगलकों की बच्ची-बुच्ची शक्ति समाप्त कर दी। १४११ में खिज्ज लोंगों ने संघर्षद वंश की नीव ढाली। १४५१ में बहलोल लोदी ने संघर्षों को हटाकर लोदी वंश की स्थापना की। १५२६ में पानीपत के युद्ध में अन्तिम लोदी सुल्तान इबाहीम हार गया और मारा गया और दिल्ली आगरा के प्रदेश बाबर के हाथ आगये। किन्तु १५३० में शेरशाह सूर ने हुमायूँ को हरा दिया और देश से बाहर खदेड़ दिया। १५४५ में उसकी मृत्यु के पश्चात् सूर साम्राज्य तितर-वितर हो गया और १५५६ में मुगलों ने इन प्रदेशों को फिर जात लिया।

किन्तु सम्पूर्ण १५वीं शताब्दी में एक ही वास्तु शैली निरन्तर चलती रही और वेंशों या सुल्तानों के परिवर्तन से शैली के क्रमिक विकास पर अन्तर नहीं पड़ा। इसके बाद भी यद्यपि १५२६ में मुगल साम्राज्य की स्वापना हुई, किन्तु अकबर के अभ्युदय से पहले तक इमारतें उसी पद्धति पर बनाई जाती रहीं। इसका चरमोत्कर्ष शेरशाह (१५४०-४५) की इमारतों में मिलता है। इसलिए संघर्ष, लोदी और सूर—इन तीनों वंशों के राज्यकाल की इमारतों को एक ही शैली के अन्तर्गत अध्ययन करना होगा।

इसमें दो प्रकार के मकबरे बनाये गए एक वर्गीकार और एक अठपहलू। वर्गीकार मकबरों में बड़े खान-का गुम्बद, छोटे खान का गुम्बद, बड़ा गुम्बद, शोश गुम्बद, दादी का गुम्बद, पोली का गुम्बद और ताजखान का मकबरा मुख्य है। इस मकबरे की योजना और रचनाविन्यास अल्लाई दरबाजे जैसी है अर्थात् अन्दर एक बड़ा हाल है जिसमें कोण-महराबों द्वारा गुम्बद बनाया गया है। किन्तु बाहर की दीवारें इस प्रकार बनाई गई हैं कि मकबरे में दो या तीन मन्जिलें लगती (चित्र-३५) हैं। पश्चिम की तरफ बन्द दीवार में किला है और

तीन तरफ ढार है जिनमें महराब और साथ-साथ तोड़ों पर आधारित उद्भवर हैं। यह तत्त्व ग्राम्यहीन तुगलक के मकबरे से प्रारंभ होकर इन मकबरों में विकसित हुआ है। इमारत के ऊपर एक भारी, इकहरा, विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियां हैं। गुम्बद पर आमलक और कलश हैं। इसमें कहीं भी ढाल नहीं दिया गया है। अन्दर चूने और रंगीन विधियों से अलंकरण हुआ है। पत्थर की कटाई का काम भी है। कुछ मकबरे बड़े सुन्दर और प्रभावशाली लगते हैं। विशेष रूप से इन मकबरों की ऊर्ध्वरचना (Super-Structure) बड़ी आकर्षक है।

अठपहलू मकबरे अधिकतर सुल्तानों के लिये बनाए गए। ये बर्गाकार मकबरों की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक है किन्तु ऊंचाई में कम है। इनमें मुव्वारक सैव्यद का मकबरा, मुहम्मद सैव्यद का मकबरा, सिकन्दर लोदी का मकबरा और सासाराम (विहार) में स्थित हसन खां सूर और (चित्र-३६) शेरशाह सूर के मकबरे मुख्य हैं। बर्गाकार मकबरों की तरह इनकी चौकियां ऊनी नहीं हैं। मुख्य कक्ष जिसमें कब्र है अठपहलू है और उसके बाहर हर दिशा में एक सुल्तान हुआ बरामदा है। इसकी प्रत्येक सुजा में तीन-चाँच महराब हैं जिनमें मध्य का महराब कुछ बड़ा होता है। सब तरफ एक विशाल छज्जा दिया गया है। प्रत्येक कोने पर बाहर की ओर एक ढलवां बप्र (Buttress) है जो ढालता के लिये कम और परम्परागत सौन्दर्य के लिये अधिक प्रयोग में लाया गया प्रतीत होता है। मुख्य कक्ष पर एक विशाल भारी गुम्बद है जिसके नीचे गुलदस्ते या छत्रियां बनाई गई हैं। ढार में महराब की आकृति है किन्तु प्रवेश तोड़ों पर आधारित उद्भवर के ढारा दिया गया है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। केवल गुम्बद ईंटों और चूने का बना है जिसमें अन्दर रंगीन चित्रकारी की गई है। बाहर की ओर मूल-रूप से चीजों टाइल्स का काम किया गया था। इस पर भव्य पदमकोण और आमलक हैं। गुम्बद पहले इकहरे बनाए गए, सिकन्दर लोदी के मकबरे में दुहरा गुम्बद (Double-Dome) है अर्थात् वह बीच में से खोला है। गुम्बद को ऊंचा उठाने की दिशा

में यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था। कक्ष पर ढाल पाठ कर स्वपति एक समस्या निवाटा लेता था और फिर वह गुम्बद को इच्छित ऊंचाई तक उठा ले जा सकता था। इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसके उठान (Elevation) पर आधित था और धीरे-धीरे स्वपति ऊंचाई बढ़ाकर अपनी कृति को सुन्दर बनाना सीख गया। इस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष ताजमहल में हुआ जिसमें ऊंचाई कम और ऊंचाई कहीं अधिक है। फिर भी समानुपात अत्यन्त मनोरम है।

शेरशाह का मकबरा अठपहलू बर्ग में सबसे सुन्दर मकबरा है। (चित्र-३७) मकबरों के इतिहास में इसका महत्व ताजमहल से कुछ ही कम है। एक भील में सीढ़ियोंदार एक ऊंची चौकी पर इसका निर्माण हुआ है। मूल योजना वही है किन्तु विभिन्न अंगों के सम्मिश्रण और विकास से इसकी शोभा अत्यन्त बढ़ गई है। चौकी के चारों कोनों पर चार विशाल छत्रियां दी गई हैं जो मुख्य इमारत को चारों ओर से सुशोभित करती हैं। मुख्य इमारत में भी छत्रियों का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है। धाठ छत्रियां बरामदे के ऊपर कीनों पर हैं। फिर आठ गुम्बद के आधार पर बनाई गई हैं जो इस प्रकार एक स्वतन्त्र मंजिल सी बन गई हैं। विशाल गुम्बद पर अत्यन्त आकर्षक पदमकोण, आमलक और कलश बनाया गया है। बास्तव में इस इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य ऊर्ध्वरचना (Sup.-t-structure) में केन्द्रित है। निर्माण में पत्थर का प्रयोग हुआ है किन्तु अलंकरण के लिये रंगीन विधियां भी काम में लाई गई हैं। महराब आलंकारिक रूप से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। बास्तव में रचना भारतीय परम्परागत क्षेत्र (Trabeate) है जिसमें पत्थर को शिलाओं को उद्भवर और अन्य विधियों में काम में लाया गया है। पह मकबरा मुस्लिम-भारतीय-जैली के विकास में उस अवस्था का सूचक है जहां एक दूसरे के तहवों को अपनाने में अब कोई हिचकिचाहट नहीं रह गई थी और मुक्त रूप से एक मिश्रित पद्धति का परिपालन हो रहा था।

लोदियों और सूरों के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं जिनमें बड़ा गुम्बद मस्जिद, खैरपुर मस्जिद, मोठी की मस्जिद, जमाला मस्जिद और

बेरस्ता हो किला-ए-कुहना मस्जिद मुख्य है। ये सब एक ही वर्ग की मस्जिद हैं। वे तुगलकों की मस्जिदों से छोटी हैं और इनमें आंगन, दालान, उपद्वार आदि नहीं होते हैं। भीनार आदि और ब्रंग भी इनमें नहीं हैं। बास्तव में इसमें मुख्य आराधना-भवन (Sanctuary) ही होता है जिसमें पांच कक्ष होते हैं और परिरामस्वरूप मुख में पांच महराबद्वार होते हैं। अतः इसका 'पचमुखी' मस्जिद नामकरण करना सुविधाजनक होगा। पहली दो मस्जिदों में चूने का काम अधिक है, बाद की तीनों पत्थर की हैं। मोठकी मस्जिद में पीछे की ओर दोनों तरफ, दो मंजिल की एक-एक अट्टालिका (Tower) बनाई गई जिसमें खम्मे तोड़े और छज्जे का प्रयोग किया गया। सामने की ओर भी छज्जा दिया गया। पावड़ में दोनों ओर बाहर लिकली हुई प्रसादिकाएँ (Oriel-Window) बनाई गईं जो विशुद्ध भारतीय तत्त्व हैं। जमाला मस्जिद में इन अंगों में घटा-घड़ी की गई। गुम्बद

पर पद्मकोश और आमलक की छटा बनी रही। इस वर्ग की सबसे सुन्दर मस्जिद दिल्ली के पुराने किले में स्थित बेरस्ता है जिसे किला-ए-कुहना मस्जिद कहते हैं। (चित्र-३८) इसमें वही पांच कक्ष हैं किन्तु उनमें विज्याकार छते बनाने के लिये विविध विधियों का प्रयोग हुआ है। मुख्य कक्ष के ऊपर गुम्बद है जिस पर 'पद्मकोश, आमलक और कलण आदि बड़े आकर्षक भारतीय उपकरणों का प्रयोग दुआ है। पीछे मोठ की मस्जिद जैसी ही अट्टालिकाएँ हैं। मुख में आलंकारिक महराबों में प्रबंध भी महराबों द्वारा दिया गया है। पत्थर में सुन्दर खुदाई और कटाई की कला का प्रदर्शन तो हुआ ही है रंगीन पत्थरों द्वारा जड़ाऊ (Inlay) काम भी किया गया है। भित्रित शैली के हण्ठिकोण से ही नहीं, सौन्दर्य के हण्ठिकोण से भी यह मस्जिद एक उत्कृष्ट गृहि है और मुगलों से पहले की मस्जिदों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

प्रान्तीय वास्तुशैलियाँ

सल्तनत काल में बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा आदि प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई और उनके अधीन बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई गईं। वैसे इनमें अधिकांश मकारे और मस्जिदें हैं किन्तु कुछ महल और सार्वजनिक इमारतें भी बनवाई गईं जैसे मांहू में आवास के महल और गुजरात में बाढ़िया और तालाब। इनमें यद्यपि स्थानीय परिवर्तन और घटा-बड़ी की गई है किन्तु भूल रूप से सल्तनत युग की मिश्रित शैली का ही प्रयोग हुआ है। महराव और गुम्बद मुस्लिम इमारतों में लगभग आवश्यक रूप से बनाये जाते रहे। महरावों की वक्रचाप विधियों में कोण-महराव, निच्यावाण और ईवान (Portal) विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुए। गुम्बद की भी विविध आकृतियों का प्रयोग किया गया। इनके साथ-साथ भारतीय खम्भों, तोड़े, उदम्बर, छज्जे, छत्रिया, पद्मकोश, आमलक और कलश आदि का भी उपयोग हुआ। विशेषकर गुजरात में हिन्दू और जैन मन्दिर जिस शैली पर बनाये जाते थे वह मुस्लिम इमारतों में भी अधिकांशतः काम आती रही। गुजरात की मस्जिदों में कहीं-कहीं तो महराव का प्रयोग प्रतीक स्वरूप ही हुआ है, नहीं तो सम्पूर्ण रूपना भारतीय तरहों से की गई है। पत्थर काम में लाया गया है, पत्थर की छुदाई ही से अलंकरण किया गया है। प्रेरणा की स्वीकार तो किया गया किन्तु मूल रूप को बना

रहने दिया गया। इस प्रकार इस काल में हिन्दू और मुस्लिम दोनों पड़तियों के समामेलन के विविध रूप देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिये बंगाल, जौनपुर, पंजाब, गुजरात, मालवा और दक्षिण की कुछ प्रान्तीय शैलियों का पर्यावरण कर लेना आवश्यक है।

(१) बंगाल :

बंगाल में वर्षीय अधिक होती है। गगा और उसकी सहायक नदियों का जाल विद्धा-हृषा है। प्रदेश उच्चर है और वांस और लकड़ी बहुतायत से होते हैं। पत्थर की कमी के कारण, इनका प्राचीन काल से ही स्थापत्य में प्रयोग होता आया था। जलवायु नम होने के कारण भी भवन-निर्माण में इस सामरों से बड़ी सहायता मिलती थी। प्रादेशिक विशेषताओं के अनुरूप ही यहां वास्तुकला का विकास हुआ।

लगभग दिल्ली सल्तनत के साथ-साथ ही यहां मुसलमानी राज्य की स्थापना हुई। केन्द्र से बहुत दूर और एक सम्मन्न प्रदेश में होने के कारण यहां के सूखेदार स्वतन्त्र होने का लोभ संवरण नहीं कर पाते थे। इल्तुतमिश्न के काल से ही दिल्ली और लखनऊ (गोड) के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। धोरे-धीरे दिल्ली के सुल्तान अपने भगवानों में इतने उलझ गए कि वे लखनऊती पर अपना नियन्त्रण स्थायी नहीं रख सके। यहां स्वतन्त्र राज्य की

स्थापना हुई। बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई गईं। सांस्कृतिक धोके में और भी विविध प्रयोग हुए। शेरशाह ने बंगालियों से फिर युद्ध प्रारम्भ किया। हुमायूं ने गोड़ को जीत लिया। किन्तु शेरशाह के साथ संघर्ष में वह हार गया और उसे देश छोड़कर भागना पड़ा। शेरशाह ने बंगाल को सात भागों में बांट दिया और उसके प्रशासन को विधिवत् व्यवस्था की। अकबर के काल से बंगाल मुगल साम्राज्य का अभिन्न भाग बन गया। किन्तु यहाँ की सूबेदारी बड़ी कंटकमय समझी जाती थी और अधिकांशतः सजा देने के लिए ही मनसबदारों को यहाँ का सूबेदार बनाया जाता था।

सलतनत काल में गोड़ बंगाल की राजधानी रहा। राजधानी एक बार पाण्डुग्राम चलो गई किन्तु १४४२ में फिर गोड़ लौट आई। इस काल की सभी इमारतें इस प्रकार गोड़ प्रीर पाण्डुग्राम में हैं। इनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें पाण्डुग्राम की आदीना मस्जिद और गोड़ में स्थित दाखिल दरवाजा (कदम रसूल, तातीपुरा और छोटी सोना मस्जिद मध्य हैं)।

पाण्डुग्राम की आदीना मस्जिद का निर्माण १३६४ के लगभग सुल्तान सिकन्दरशाह ने कराया। यह एक विशाल जासी मस्जिद है जिसमें हजारों व्यक्तियों के नमाज पढ़ने के लिए स्थान है। इसकी बही परम्परागत बोजना है अबतिं बीच में आंगन है जिसके तीन और महराबदार दालान हैं। पण्थम की ओर आराधना भवन है। उत्तरी दालान के ऊपर एक मञ्जिल और बनाई गयी है। यहाँ भारी बोडे खम्भों से महराबदार निर्माण किया गया है जो इक तो है ही, खम्भों और महराबों का मुख्य-पूर्ण सम्मिलण हीने के कारण बड़ा अच्छा लगता है। खम्भे पत्थर के हैं, महराबों में इंटों का प्रयोग किया गया है।

प्राराधना भवन का मुख्य कक्ष (Nave) विशेष रूप से अलंकृत है। यहाँ पत्थर की मुन्दर कारीगरी के दर्शन होते हैं। कमल और कुछ अन्य हृष्टक हिन्दू हैं। किवले की दिग्गा सुचित करने वाला महराब बुद्ध चेत्यों और विहारों में प्रयुक्त ग्रालय (Niche) की स्पष्ट अनुकूलि है। इसमें तीन दोंत हैं (Trefoil)

जो दो मुन्दर कमनीय स्तम्भों पर आधारित हैं। एक और एक अन्य बातेदार आलय है और दूसरी और सीहियोंदार मिम्बर है। इसकी छत और गुम्बद इंटों के थे और शायद नहीं अनुपात न होने के कारण वे गिर गए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अदीना मस्जिद अपने युग को अत्यन्त मुन्दर और अच्छी इमारत रही होगी।

नदियों, बाढ़ों और अतिशय वर्षा के इस प्रदेश में परम्परागत रूप से जो मकान बनते थे उनकी छतों पर्सी बनाई जाती थीं जिससे वे हल्की रहें और वर्षा का पानी नीचे आतानो से बह जाए। ये छतें बासों को मोड़कर बनाई जाती थीं और फूस से ढकी जाती थीं। घोरे-धीरे मुड़ों हुई नुकीली छतें यहाँ के स्थापत्य का एक विशिष्ट अंग बन गईं। इमारतें जब इंट और पत्थर की बनाई जाती थीं तब भी यह तत्काल उसमें परम्परागत रूप से रहता था। १४२५ के लगभग पाण्डुग्राम में निर्मित सुल्तान जलालुद्दीन मुहम्मदशाह का मकबरा, जिसे एक लक्ष्मी मकबरा कहते हैं इस बात का महत्वपूर्ण उदाहरण है। मुझे हुई बास की छत जैसा ही इसका रचना विधान है। गोड़ में स्थित छोटी सोना मस्जिद (१४६३-१५१६) की छत भी पत्थर की होते हुए भी इसी प्रकार की है। इसमें मध्य गुम्बद को बंगाल की झोपड़ी की छत जैसा ही बनाया गया है। इस मस्जिद में पत्थर की कटाई का सुन्दर काम किया गया है। दौतिदार महराबों का प्रयोग हुआ है। गोड़ की तातीपुरा मस्जिद (१४७५) में पत्थर की कटाई का एसा ही मुन्दर काम देखने को मिलता है। गोड़ में अन्य बहुत-सी इमारतें बनवाई गई थीं। जिनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं। कुछ मस्जिदें, जैसे लमकटी मस्जिद, लौटन मस्जिद, प्रिमठ मस्जिद, बड़ी सोना मस्जिद और कदम रसूल मस्जिद ग्रभी थीं। इनका निर्माण १४३५ से १५३० के मध्य हुआ। इनमें पत्थर के साथ-साथ इंटों का भी व्यापक प्रयोग किया गया था। कहीं-कहीं इंटों के साथ मुरामय अलंकरण हुआ था। गोड़ के खड़हरों से रंगीन टाइलों के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं जो यह संकेत करते हैं कि यहाँ आमतौर पर इंटों से निर्माण होता था और उसमें

अलंकरण के लिए रंगीन टाइल लगाए जाते थे। तान्त्रीपुरा और लौटन मस्जिदों में तो ये टाइलें अभी लगी हुई हैं।

१५वीं शताब्दी में निर्मित गोड़ में ही स्थित दालिल-दरबाजा अपने बुग में एक प्रभावशाली इमारत रहा होगा। यह ईंटों से बनाया गया था। इसमें एक विशाल महराबदार द्वार है जिसके दोनों ओर गजंराकार अद्भुतिकार हैं। दूर से ही यह किसी दुर्ग का इह प्रवेश द्वार सा लगता है। इसमें भी मृणामय अलंकरण किया गया था। लगभग इसके समकालीन ही निर्मित फिरोज़ खानार भी गोड़ में ही स्थित है। यह पाच मील की है और ८५ फीट ऊंची है। इसे विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया गया था। यह भी ईंटों की बनी है और इसमें अलंकरण के लिये नीली और सफेद टाइलों का प्रयोग हुआ है।

बगाल की शैली का सबसे महत्वपूर्ण तत्व मुड़ो हुई नुकीली छत है। स्मरण रखने की बात है कि गोड़ का राज्य समाप्त होने पर यहाँ के कारीगर धीरे-धीरे मुशल आश्रय में चले गये। उन्होंने इस तत्व का सूत्रपात मुशल बास्तुकला में किया जिसके प्रमाण आगरे के खास महल और नगीना मस्जिद में और दिल्ली की मोती मस्जिद में मिलते हैं। मुशलों के पतन के पश्चात् राजपूत बास्तुकला में यह तत्व इतना अधिक प्रभावशाली हो गया कि मुड़ी हुई नुकीली छत और वैसे ही मुड़े हुए नुकीले महराब उनकी इमारतों के विशिष्ट अंग बन गये।

(२) जौनपुर :

फिरोज़शाह तुगलक (राज्यकाल १३५१-१३८७) ने गोमती के किनारे एक नगर बसाया और उसका नाम अपने चचेरे भाई मुहम्मद बिन तुगलक (जिसे जौना वा कहते थे) की स्मृति में जौनपुर रखा। तुगलक राज्य के अन्तर्गत यहाँ के सुबेदार मसिक-उल-शर्क कहलाते थे और इसी से शर्की वंश की नीव पड़ी। १३६८ में तैमूरलम के आक्रमण का लाभ उठाकर ये स्वतन्त्र हो गये। लोदों वंश के संस्थापक बहलोल लोदी का जौनपुर के शक्तियों से भयंकर संघर्ष हुआ। बहलोल ने अन्त में हुसन जाह शर्की को हरा दिया और जौनपुर पर अधिकार कर-

लिया। इस प्रकार शक्तियों को राज्य करने के लिए सौ वर्ष से भी कम समय मिला। किन्तु इस अलंकाल में ही जौनपुर उत्तरी भारत का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। यहाँ राज्याध्यय में सगीतज्ञों और चित्रकारों को संरक्षण मिलता था। यहाँ बड़े-बड़े कालिज थे जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी पहने आते थे। इसे इसलिये भारत का शीराज कहा जाता था। शेरशाह सूर ने भी यही शिक्षा पाई थी।

इस काल में यहाँ कुछ बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं जिनमें शमसुद्दीन इब्राहीम द्वारा १४०८ में निर्मित अटाला मस्जिद, महम्मदशाह के राज्यकाल में १४५० में निर्मित लाल-दरबाजा मस्जिद, और हुसेनशाह द्वारा १५९० में निर्मित जामी मस्जिद प्रमुख हैं। ये तीनों एक ही श्रेणी की मस्जिदें हैं और तीनों को एक ही योजना विन्यास है अर्थात् मध्य में एक विशाल खुला हुआ आगन जिसके तीन ओर बड़े-बड़े दालान और पश्चिम की ओर बाराबना गृह है। आराबना गृह से मध्य में मुख्य कक्ष है जिसके ऊपर मुख्य गुम्बद है। किन्तु इसके सामने की ओर ईवान के रूप में एक विशाल महराब खड़ा किया गया है जिसने मुख की ओर से गुम्बद को विल्कुल छिपा दिया है। ध्यान रखते की बात यह है कि गुम्बद का घेरे नोंचे के कम के ऊपर छत पाटना ही नहीं था, ऊर्ध्व रेखा में उसकी गोभा बढ़ाना भी था। इन मस्जिदों में गुम्बद को इस प्रकार ढककर यह सौन्दर्य तत्व नाप कर दिया गया है और जौनपुर की मस्जिदों की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। स्पष्ट ही इन मस्जिदों की प्रेरणा दिल्ली की बेगमपुरी मस्जिद (१३८७) से ली गई जिसमें मध्य में ऐसे ही ईवान का आयोजन था। किन्तु यहाँ ईवान की गहराई घटा दी गई और ऊर्ध्वाई इतनी बड़ाई गई कि अनगात नियन्त्रण से बाहर हो गए। विभिन्न श्रेणी में तालमेल विशिष्ट गया। ओडा बहुत सौन्दर्य पत्थर की सुन्दर कटाई के कारण बेख रह गया है।

इन मस्जिदों में पत्थर का व्यापक प्रयोग हुआ है। खम्भों और तोड़ों से रखना की गई है। कुछ सामग्री हिन्दू मन्दिरों से ली गई है। नुकीने

महरावों में वर्षी के फल वाली माला लगाई गई है। अलंकरण के लिये खाली आलियों (Niches) का भी काफी उपयोग किया गया है। इवान में दाल दिया गया है जो इस युग की सलतनत वास्तुकला का विशिष्ट तत्व था। भारतीय कारीगरों ने सम्पूर्ण सौन्दर्य को बनाए रखने का काफी प्रयत्न किया है किन्तु वास्तुकला में जिन तत्वों से ललित और कमनीय सौन्दर्य का दोध होता है उनका इन मस्तिष्कों में अभाव है।

(३) पंजाब और सिन्ध:

पंजाब और सिन्ध के प्रदेशों में मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव सबसे पहले और सबसे अधिक पड़ा। यहां ईटों से मकान बनाने का रिवाज था और परिणामस्वरूप रगीन टाइलों से अलंकरण किया जाता था। यह ईरानी पढ़ति थी। लाहोर में सलतनत काल की इमारतों के अवशेष महत्वहीन हैं। मुल्तान में कुछ बड़े-बड़े मकबरे अवश्य शेष रह गये हैं। इनमें जाह युसुफ गदिज़ा का मकबरा (११५०), शहना शहीद ग्रामसूदीन तबरिज़ी और बहाउलहक के मकबरे (निर्माणकाल १२६० से १२८० के मध्य) और शेख रुक्ने ग्रालम का मकबरा (१३२०-२५) प्रमुख हैं। बहाउलहक, शमसुद्दीन तबरिज़ी और रुक्ने ग्रालम के मकबरे अठपहलू हैं। प्रत्येक भुजा में एक-एक महराव है और कोनों पर निर्युह (Pinnacles) दिये गये हैं। ऊपर एक विशाल गुम्बद बनाया गया है जिस पर पचाँकोंग और कलश हैं। कटी हुई ईटों से अलंकरण करने की विधि के प्रतिरिक्त इनमें रगीन टाइलों का भी व्यापक प्रयोग किया गया है। यह अलंकरण ही इन इमारतों का विशिष्ट तत्व है।

सिन्ध में कटी हुई अलंकृत ईटों और रगीन टाइलों का उपयोग सबसे अधिक होता था। सम्मांवण की सभी इमारतें इसी शैली में हैं। दबगीर मस्जिद, मकली पहाड़ी के मकबरे और मुगल युग में निर्मित जानीवें का मकबरा और घट्ठा की जामी मस्जिद सभी में अलंकरण की यही विधि अपनाई गई है। इस पढ़ति का सबसे बड़ा दोष यही था कि इसमें स्थापति की रचनाविन्यास का अवसर ही नहीं मिलता था और वह अलंकरण के

लिए आए हुए टाइल के कलाकार के अधीन रहकर काम करता था। वास्तु गौण और अलंकार प्रमुख हो जाता था। दीवरों में छंजे-तोड़े आदि न देकर उन्हें ऐसा बनाया जाता था कि उन पर अधिक से अधिक टाइल का काम किया जा सके। निर्माण कार्य में सबसे अधिक ध्यान इस प्रकार रगीन काम की इस चला को दिया जाता था। इमारत पर इस अलंकरण को ऐसे ओड़ा दिया जाता था जैसे कपड़े को किसी दुकान पर लकड़ी की आकृति को जड़ाऊँ साढ़ी पहना दी गई हो। यहां साढ़ी का प्रदर्शन हो जैसे एक मात्र व्येष्य होता है वैसे ही इत इमारतों में रगीन टाइलों के काम का प्रदर्शन किया गया है।

(४) गुजरात:

मध्यकाल की प्रान्तीय शैलियों में सबसे अधिक मुन्दर और कलात्मक गुजरात की शैली है। यहां प्राचीम काल से बड़े-बड़े मुन्दर जैन और हिन्दू मन्दिर बनते थे जिनमें सुरुचिपूर्ण डंग से कांट हुए खम्मे, तर्पिकार तोड़े (Struts) और छंजे, समतल छतें (Corbelled ceilings), प्रसादिकाएँ (Oriel Windows) और ब्रत्रों (Buttresses) का प्रयोग होता था। वास्तव में बात यह थी कि गुजरात में लकड़ी के स्थापत्य का चलन अधिक था और रचना के ये सारे अंग मूलतः लकड़ी में बनते थे। लकड़ी में इन्हे मुन्दर से मुन्दर डंग से काटा और सजाया जा सकता था। पथर का प्रचार होने पर लकड़ी के इन्हीं तत्वों का पत्थर में अनुवाद कर दिया गया। उनका स्वरूप ये का त्यों बना रहा, केवल सामग्री बदल गई। मूलरूप से लकड़ी की रचना विधि से प्रेरित होने के कारण ही इन अंगों में इनका लोच और कमनीयता है। गुजरात के सुलतानों का यह सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उन्हें अपनी इमारतों में काम करने के लिए भारत के सबसे अधिक योग्य कारीगर मिले जिनके पास प्राचीन वास्तु परम्पराओं का विशाल भण्डार था। गुजरात की बास्तुशैली प्रान्तीय-शैलियों में सर्वोत्कृष्ट ही और मुगलों की कला से कुछ ही पीछे रह जाती है।

एक विशेष बात यह है कि जिस पढ़ति पर ये कारीगर हिन्दू और जैन मन्दिरों में काम करते थे

उसी पर इन्होंने मस्जिदों का निर्माण किया। इस्लाम के प्रतीक स्वरूप महराव डाला तो डाला नहीं तो बहुत सी इमारतों में महराव भी नहीं है। सुन्दर खम्भों और सरकार तोड़ों द्वारा की गई यह रचना परम्परागत ढंग से हुई। तोरण और प्रसादिकाओं का व्यापक प्रयोग किया गया। हिन्दू मन्दिर की योजना वर्गकार कोणात्मक होती थी। इसी तत्व का प्रयोग सम्बद्ध मीनारों में किया गया जो पूर्ण रूप से आलकारिक थीं। इस प्रकार गुजरात की मस्जिद का विकास भी हिन्दू मन्दिर के तत्वों को लेकर हुआ। जैसे रामायण का फारसी में अनुवाद कर दिया गया हो, यह शैली विशुद्ध भारतीय शैली है।

यहाँ भी सबसे पहले हिन्दू मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित करके काम चलाया गया। फिर मन्दिरों को गिराकर उनकी सामग्री से निर्माण किया गया। इसके पश्चात् वह ग्रवस्था आई जब प्रत्येक इमारत की विविध योजना बनाई जाती थी और उस योजना के अनुसार एत्यर काटकर तैयार किए जाते थे। पाठन की मुस्लिम इमारतें सबसे पहली ग्रवस्था में १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनीं। इनमें शेष करीद का मकबरा ही शेष रह गया है। दूसरी श्रेणी की इमारतों में भड़ोच की जामी मस्जिद है। मध्य में आंगन के तीन और दालान और परिचम की ओर आराधना भवन है। इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री जैसे अलंकृत खम्भों का कुलकर उपयोग किया गया है। यद्यपि परिचम की दीवार में महराव बनाए गए हैं किन्तु इस मस्जिद का स्वरूप मूल रूप से हिन्दू मन्दिर जैसा ही है। इस मस्जिद का निर्माण भी १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुआ।

खम्भात की जामी मस्जिद जो लगभग १३२५ में बनी कुछ भिन्न है। इसके आराधना भवन के मुख्यपट (Facade) पर भी महराव बनाए गए, जिससे हिन्दू तत्वों की प्रधानता समाप्त हो जाए। इसमें पत्थर की सुन्दर जालियाँ वा प्रयोग किया गया। यह भी गुजरात की शैली की एक विशेषता थी किन्तु ये जालियाँ पहले लकड़ी में बनाई जाती थीं। कुल मिलाकर खम्भात की मस्जिद सुन्दर

लगती है। यहाँ से शैली की तोसरी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

१३३३ में दोलका में हिलाल खां काजी की मस्जिद बनी। इसमें आराधना भवन के महरावदार मुख्यपट के दोनों ओर बाहर दो आलंकारिक मीनारे बनाई गईं। यह गुजराती शैली का विशिष्ट तर्स था जिसका सूत्रपात्र मस्जिद की रचनाविधि में किया गया। कालान्तर में यह बहुत प्रचलित हुआ। सम्पूर्ण १५वीं शताब्दी और १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका मुख्यपट सम्बद्ध रूप में अहमदाबाद की मस्जिदों में जैसे जामी मस्जिद, अहमदशाह की मस्जिद, सैयद आलम की मस्जिद, कुतुबुद्दीन शाह की मस्जिद, रानी रूपदत्ती की मस्जिद और सारंगपुर मस्जिद में व्यापक प्रयोग किया गया। चम्पानेर की जामी मस्जिद और नगीना मस्जिद में भी इनका ऐसे ही प्रयोग हुआ। खीरे-धीरे इसका उपयोग आराधना भवन के मुख्यपट के दोनों ओर विशेष रूप में होने लगा और इसके उदाहरण अहमदाबाद में रानी सीपरी की मस्जिद, भुहाफिज खां की मस्जिद और मुहम्मद गौस की मस्जिदों में मिलते हैं। इससे मुख्यपट की शोभा चौगुनी हो जाती है। गुजरात के अतिरिक्त इसका और कहीं प्रयोग नहीं हुआ और स्पष्ट ही तोरण और प्रसादिकाओं की तरह यह इस प्रदेश की शैली की अपनी विशेषता थी। दोलका में ही १३६१ में टन्का मस्जिद बनी। किन्तु इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री जैसे खम्भों का प्रयोग अधिक किया गया और शैली के विकास में इसका कोई महत्व नहीं है।

१४११ में अहमद शाह ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। उसने असावल के प्राचीन स्थान पर अहमदाबाद नामक नगर बसाया। यों अहमद-शाही वंश की नींव पड़ी। इसके राज्यकाल में सैकड़ों उत्कृष्ट श्रेणी की इमारतें जैसे मस्जिदें, मकबरे, बावड़ियाँ, कुएं और सरोकर बने। इमारतें बनवाने का यह कम लगभग १५० वर्ष चलता रहा। कुछ बड़ी-बड़ी भव्य मस्जिदों का इस काल में निर्माण हुआ। चम्पानेर की मस्जिदों को छोड़कर वे लगभग सभी अहमदाबाद में हैं। अहमदशाह के

ही राज्यकाल में यहाँ कुछ बड़ी सुन्दर मस्जिदें बनी जिनमें जामी मस्जिद मुख्य है। (चित्र-३६) इसके आराधना भवन में बड़ी मुख्यपट पर महरावों का प्रयोग हुआ है और ऊपर गुम्बद लगे हैं किन्तु अन्दर की सारी रचना खम्भों और तोड़ों द्वारा की गयी है। अन्दर मुख्य रक्षा में छत पर से प्रकाश और बायु लाने के लिये खम्भों पर ही आधारित एक दुहरी मंजिल बनाई गई (चित्र-४०) है। इससे भारतीय कलाकार की कलात्मक सुभ-बुझ का परिचय मिलता है। ३०० खम्भों की सम्पूर्ण आराधना भवन में वडे सुन्दर ढंग से सजाया गया है। मस्तिश जैसे डालदार आसनों का प्रयोग किया गया है। तोरण लगाये गए हैं। सुन्दर डिजाइनों में कटी हुई जालियों का उपयोग किया गया है। स्पष्ट ही गुजरात की प्राचीन वास्तुकला के ये परम्परागत तत्त्व मध्यकाल की शैली में घुलमिल गये थे और निस्संकोच मुर्तिलम इमारतों के अंग बन गये थे। कला में दो भिन्न धाराओं के सम्मिश्रण का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण और कहीं देखने की नहीं मिलता है।

मध्यकालीन गुजरात शैली के कुछ विशिष्ट तत्त्व इस प्रकार हैं:—

कोणालक मीनारे (वर्षे)
तोरणाकार आलय और महराब

प्रसादिकाएँ
खम्भे और उनके जिरस
सर्पिकार तोड़े और छन्दों
सुमतल छतें
छत्रियों और कलण

पत्थर में कलात्मक कटाई का काम और
जालियाँ।

स्पष्ट ही प्रक्कर की इमारतों में ये तत्त्व गुजरात के कारीगरों के हाथों पहुँचे।

१५ वीं शताब्दी के मध्य में अहमदाबाद के निकट सरखेज नामक रमणीक स्थान पर बड़े व्यापक इतर पर निर्माण कार्य हुआ। यहाँ मकबरे, मस्जिद, आवास-भवन, तोरण द्वार, बाग और सरोबर बनाये गए। इनमें दोखगुम्बद खत्ती और दरशावाँ के मकबरे प्रसिद्ध हैं।

महमूद बघरो १४५६ में गढ़ी पर बैठा। यहाँ

में मकबरे के १५७१ में गुजरात विजय करने तक निर्माण कार्य को बहुत प्रोत्साहन मिला और अहमदाबाद में सैकड़ों मस्जिदें और मकबरे बनवाये गये। इनमें दीवी अहूत कूकी की मस्जिद, मुहाफिज खाँ की मस्जिद, कतह मस्जिद, गुम्बटी मस्जिद, सिंही संघर्ष की मस्जिद, मुहम्मद गोस की मस्जिद आदि मुख्य हैं। मकबरों में संघर्ष उस्मान का मकबरा, शाहग्राम का मकबरा, रानी सीपरी का मकबरा और रानी रूपवन्ती का मकबरा प्रसिद्ध है। मुहाफिज खाँ की मस्जिद बड़े कलात्मक ढंग से अलंकृत की गई है। यहीं संघर्ष की मस्जिद में अत्यन्त सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ (चित्र-४१) है। स्पष्ट ही ये काष्ट-कला से प्रेरित हैं। रानी सीपरी की मस्जिद का अलंकरण भी उत्कृष्ट थेरेणीका (चित्र-४२) है। फर्मासन ने तो इसकी गिनती संसार की सर्व सुन्दर हमारतों में की थी। इसमें केवल एक और एक महराब लगा है, नहीं तो रचना विधान पूरीतः हिन्दू है। रेलवे स्टेशन के सामने ही स्थित इसी युग की एक मस्जिद में एक अद्भुत बात देखने की मिलती है। मुख्यपट के मुख्य महराब के दोनों ओर दो मीनारे हैं जो हिलती हैं। एक मीनार ऊपर से गिर गई है। दूसरों की तीनों मंजिलें भी ज्यों की त्यों हैं। ऊपर जाकर मुख्य स्तम्भ को पकड़ कर हिलाने पर पूरी मीनार स्पष्ट, निस्संदेह हिलती है। इसके हिलने के कारण का पता नहीं लग सका है। क्या भेद है? किन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि ठोस पत्थर की बनी यह मीनार ऐसे हिलती है जैसे कोई चीज़ भूल रही हो। यह मध्यकाल की वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर तो सकेत करती ही है भारतीय कलाविदों की क्षमता का भी परिचय कराती है। १४२३ में वनी अहमदाबाद की जामी मस्जिद में भी ऐसी ही मिलती मीनारे थीं जो १८१६ के भूचाल में गिर गईं। कहते हैं कि इनमें से जब एक को हिलाया जाता था तो दूसरी अपने आप हिलती थी। अहमदाबाद की कुछ अन्य मस्जिदों में भी ऐसी हिलती मीनारों के उपयोग होने का उल्लेख मिलता है। दुख की बात है कि हमारे यहाँ के विद्वान् इस भेद को जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते न हमारी राष्ट्रीय सरकार

ही वास्तु सम्बन्धी शोधकार्यों को कभी कोई प्रोत्साहन देती है।

चम्पानेर को जामी मस्जिद भी एक भव्य इमारत है (चित्र-४३)। इसका निर्माण महमूद बघरी के ही राज्यकाल में हुआ। मस्जिद का मुख्य दार बड़े सुन्दर ढंग से बनाया गया है जिसमें जालियाँ, सर्पाकार, तोड़ों और वर्गाकार छत्रियों का अलंकरण के लिए प्रयोग हुआ है। इसमें भी अहमदाबाद की जामी मस्जिद की तरह आराधना भवन को साज-सज्जा पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। रचना वैसी ही खम्भांदार है (चित्र-४४)। वैसे ही सुन्दर तत्त्वों का सम्मानणा हुआ है। इस मस्जिद की गिनती भी भारत की सर्वोत्कृष्ट मस्जिदों में की जाती है।

इन इमारतों के अतिरिक्त गुजरात में सरोवर, कुएँ और बाबङ्हियाँ बनवाने का बड़ा रिवाज था। पाटन में जयसिंह सिंहराज का बनवाया हुआ सहस्रलिंग तालाब जिसमें बीच-बीच में एक हजार शिव मन्दिर थे और जो कई मील के बीचे में फैला हुआ था, अपने मूल रूप में एक अद्भुत कृति रहा होगा। ११वीं शताब्दी में आसवाँ में माता भवानी की सीढ़ियोंदार विशाल बाब (बाबड़ी) बनी। पाटन में राणा की बाब का निर्माण भी लगभग इसी काल में हुआ। अहमदशाही वंश के राज्यकाल में यह परम्परा बनी रही और कुछ बड़ी-बड़ी बाबङ्हियों और कुओं का निर्माण हुआ। आसवाँ में ही १५वीं शताब्दी में बाई हरीर की बाबड़ी बनाई गई। अहमदाबाद से १२ मील दूर अदालज में भी एक बाबड़ी बनी जो गुजरात की बाबङ्हियों में सबसे सुन्दर मानी जाती है। यह कई मञ्जिल गहरी है। प्रत्येक मञ्जिल में कक्ष, खम्भांदार बीथिकाएँ और चबूतरे बने हैं। पत्थर में बड़े सुन्दर अलंकरण हुआ है। इसी काल में चट्ठाने काटकर महमूदाबाद में भगरिया कूपागार का निर्माण किया गया। यह भी बड़े सुन्दर कृति है। यह स्मरणीय है कि जल से सम्बन्धित ये वास्तु कृतियाँ सार्वजनिक उपयोग के लिए बनाई जाती थीं और किसी व्यक्तिगत अहं, प्रदर्शन या सृति के लिए नहीं बनती थीं। ये गुजरात के

लोगों, विशेषकर जैनों की धार्मिक भावना का सूचक हैं।

(५) माण्डू:

फिरोज तुगलक के मरते ही तुगलक साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। १३६८ में तैमूरलंग के विनाशकारी अकबर ने रही सही कमी पूरी करदी। विभिन्न प्रान्तों के सूबेदार स्वतन्त्र हो गए। मालवा में भी दिलावर खाँ गोरी ने एक स्वतन्त्र राज्य की नींव ढाली जिनके अधीन कालान्तर में बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण हुआ। इसकी प्रेरणा स्पष्ट ही दिल्ली सल्तनत की वास्तु-शंखी से नी गई और उसी का स्थानीय रूचियों और उपलब्ध सामग्री के अनुकूल विकास किया गया। पहले राजधानी धार में रही। फिर प्राचीन माण्डव-गढ़ को राजधानी बनाया गया। बंगलों और घाटियों से विरा हुआ यह दुर्गम स्थान बड़ा सुरक्षित था। यहाँ गोरी और खिलजी वंश के सुल्तानों ने लगभग १५० वर्षों के राज्यकाल में बड़ी-बड़ी इमारतें बनाई जिनमें हिण्डोला-महल, होशंग शाह का मकबरा, जामी मस्जिद, अशरफो महल और जहाजमहल मुख्य हैं।

हिण्डोला महल (चित्र-४५) होशंगशाह के राज्यकाल में बना और जायद दरबारहाल की तरह से उसका प्रयोग होता था। यह दुमञ्जिली इमारत पत्थर की बनी है। मुख्य कक्ष आयाताकार है जिसमें तुकीले विशाल महरावों का प्रयोग किया गया है। बाहर की ओर भी महराव है। बाहर की दीवारों में ढाल दिया गया है जो तुगलकालीन इमारतों के ढाल की याद दिलाता है। ऊपर की मजिल में बड़ी सुन्दर प्रसादिकाएँ (Oriel-Windows) बनाई गई हैं। इस सम्पूर्ण मुस्लिम-कृति में यही एक स्पष्ट हिन्दू तत्त्व है जिसकी प्रेरणा अनुमानतः गुजरात से आई। यही तत्त्व इस विशाल इमारत में अलंकरण का भी काम करता है। वैसे पत्थर की कुछ जालियों का भी इसमें प्रयोग हुआ है।

होशंगशाह का मकबरा श्वेत संगमरमर की एक सुन्दर इमारत है। इसकी योजना स्वयं होशंग ने बनाई किन्तु यह उसके उत्तराधिकारी महमूद के राज्यकाल में १४४० में पूर्ण हुआ। यह

वर्गीकार है। दो तरफ खाली दीवारें हैं। दक्षिणा और उत्तर की तरफ तीन-तीन महराव दिए गए हैं। विशिष्टा के मध्य का महराव मुख्य द्वार है। चारों ओर सुन्दर तोड़ों पर आधारित एक छज्जा बनाया गया है। सबसे ऊपर एक विशालकाय गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार आलंकारिक लघु गुम्बद दिए गए हैं (चित्र-४६)। गुम्बद पर पद्मोंगे नहीं हैं, आमलक और कलण हैं। अन्दर रंगीन टाइलों का काम हुआ है। बन्द महरावों में जालों का प्रयोग किया गया है।

माणू की सबसे आकर्षक इमारत जामी मस्जिद है (चित्र-४७)। इसे होगमशाह ने बनवाना आरम्भ किया और उसके उत्तराधिकारी महमूद ने १४४० के आसपास इसे पूरी कराया। यह वर्गीकार है और प्रत्येक भुजा दो फीट लम्बी है। यह एक ऊँची चौकी पर बनी है जिसके नीचे महरावदार कक्ष बनाए गए हैं। ऊंचे मुख्यद्वार के सामने बड़ी मुरुचिपूरी सीढ़ियां बनाई गई हैं। माणू की इमारतों में सीढ़ियों का बड़ा सुन्दर विधान रखा गया है और यह यहां की वास्तु-शैली की एक विशेषता है। मस्जिद की वही परम्परागत योजना है अर्थात् मध्य में विशाल आंगन के तीन और दालान हैं और पश्चिम की ओर आराधना-भवन है। दालान के कक्षों पर लघु गुम्बदों का प्रयोग हुआ है। मुख्य कक्षों पर विशाल भारी गुम्बद हैं जिन पर आमलक और कलण सुशोभित हैं। मुख्य द्वार का रखना विन्यास बड़ा सुन्दर है। यह और होणग-गाह का मकबरा लगभग साथ-साथ ही बने और दोनों लगभग एक से ही हैं।

आराधना भवन को वहे सुन्दर डंग से संदारा गया है। पश्चिमी दीवार में महरावदार आलंकारिक आराधना दिए गए हैं जिनमें अल्लाई-दरवाजे जैसी बर्छी के फलों की माला लगाई गई है। उन्हें पतले-पतले कमरीय खम्भों पर आधारित किया गया है। मिम्बर के ऊपर एक अत्यन्त आकर्षक छवी बनाई गई है जिसमें सप्तकार तोड़े और विशाल छज्जे का प्रयोग हुआ है (चित्र-४८)। स्पष्ट ही ये तत्त्व गुजरात की वास्तु-शैली से प्रेरित हैं। ऐसा लगता है कि इन इमारतों के निर्माण में गुजरात के कला-

कारों ने भी भाग लिया था। भारी महराव के साथ-साथ नुकीले महराव वडे थच्छे लगते हैं। एक सिरे से एक सीधी रेखा में देखने पर वे बड़ा सुन्दर हथय प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण रखना पत्थर की है। रंगीन टाइलों का भी अलंकरण के लिए व्यापक प्रयोग किया गया है।

अशरफी महल (चित्र-४९) का निर्माण भी महमूद प्रथम के राज्यकाल (१४३६-४१) में हुआ। यह बड़ी सुन्दर इमारत रही होगी। अब लगभग खण्डहर हो गई है। मूलरूप में यह एक मदरसा था जिसमें एक खुला आंगन और चारों ओर महरावदार कक्ष थे। बाद में आंगन को ढक कर छत पर एक विशाल मकबरा बनाया गया था। मकबरे तक जाने के लिए सुन्दर सीढ़ियों का आयोजन किया गया। यही महमूद ने मेवाड़ के राणा कुम्भा पर तथाकथित विजय के उपलक्ष में विजय-स्तम्भ भी बनवाया त्रिजिसका केवल आधार शेष रह गया है। इस महल में रंगीन टाइलों के अतिरिक्त संगमरमर में विभिन्न रंगीन पत्थरों से जडाऊ काम (Inlay) भी किया गया है। इसमें यह प्रमाणित हो जाता है कि पत्थर के जडाऊ काम का सूत्रपात शाहजहां के युग में नहीं हुआ। माणू में संगमरमर को इमारतें बनने के साथ-साथ १५वीं शताब्दी में ही भारतीय कारीगर यह अलंकरण करने लगे थे।

जहाजमहल माणू में आवास के महलों में सबसे अधिक सुन्दर इमारत है। इसका निर्माण ग्यासूहीन खिलजी के राज्यकाल (१४६२-१५००) में हुआ। यह दो छोटी-छोटी भौलों—कपूर तालाब पौर मुज तालाब के मध्य में स्थित है और पानी के ऊपर जहाज की तरह से भूमता रहता है। इसीलिये इसे जहाजमहल का नाम दिया गया है। इसमें वडे कक्ष और खुली हुई छत्रियां हैं। रखना विश्वि में महरावों के साथ तोड़ों पर आधारित छज्जे का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है (चित्र-५०)। रंगीन टाइलों से अलंकरण किया गया है। महल के अन्दर भी बहते हुए पानी की व्यवस्था थी। सीढ़ियोंदार छोटे-छोटे तालाब बनाए गए थे। पानी की इस कुत्रिम व्यवस्था से बातावरण तो ठण्डा होता ही था इससे महल का सौन्दर्य भी बढ़ जाता था। इस पद्धति का

चरमोत्कर्ष मुगलों के हाथों आगारा और देहली में हुआ। माणू में ही स्थित नीलकण्ठ महल में भी बहते हुए पानी की ऐसी ही सुन्दर व्यवस्था है। बातावरण इतना मनोरम है कि वहाँ से जाने को जी नहीं चाहता। मुगल मेनापति अबदुल्ला खाँ किरोज जंग तो यहाँ के सौन्दर्य से इतना मुख्य हुआ कि उसने संन्यास ले लिया और यहीं रहने लगा। उसने यहाँ इन पक्षियों को अकित कराया—

तमाकरदम् तमामे उच्च मण्डले आवां-गिल
कि इक दमा साहिव कुनह मन्जिल
(मैंने अपना सारा जीवन सासारिक कार्यों में
व्यर्थ गवा दिया। यहा आकर मुझे जीवन का लक्ष्य
मिल गया)।

(६) दक्षिण की वास्तु-शैलियाँ :

मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल में १३४७ में अलाउद्दीन हसन बहमनशाह ने गुलबर्गा में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। बहमनी वंश के शासक निर्माण कार्य में बड़ी रुचि लेते थे और उन्होंने गुलबर्गा में बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई जिनमें अधिकांश अब नष्ट हो गई हैं। कुछ रोप है जिनमें गुलबर्गा की जामी मस्जिद मुख्य है। १३६७ में बड़ी यह मस्जिद परम्परागत योजना के अनुसार नहीं है। इसमें न तो मध्य में खुला आंगन है न उसके तीन ओर लम्बोंदार दालानों की व्यवस्था है। यह ढकी हुई मस्जिद है जिसमें विशाल नुकीले महरावों का प्रयोग किया गया है (चित्र-५१)। मुख्य कक्ष पर एक विशाल गुम्बद और चारों कोनों पर चार छोटे गुम्बद हैं। इसमें कोई भी भास्तीय तत्व नहीं है और स्पष्ट ही इसकी प्रेरणा ईरान से आई जिसके साथ यहाँ के शासकों का सम्बन्ध बराबर बना रहता था।

१४२५ में बीदर को बहमनी साम्राज्य की राजधानी बनाया गया और परिणामस्वरूप वहाँ बड़े-बड़े महल, मस्जिदें और मकबरे बने। कुछ महलों में बड़ा सुन्दर रंगीन अलंकरण हुआ था। बहसे पानी की कुनिम व्यवस्था की गई थी। इन इमारतों में भी ईरानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से बीदर का महमूद गावाँ का मदरसा प्रतिनिधि इमारत है। इसका निर्माण

१४७२ में हुआ। गावाँ एक सुसंस्कृत ईरानी था। उसने इसका निर्माण विशुद्ध ईरानी पद्धति पर ईरानी कारीगरों द्वारा कराया। यहाँ तक कि अलंकरण के लिये ईरान से ही रंगीन टाइलें मंगाई गईं। मदरसा भारत की भूमि पर एक ईरानी शृंति है और देश की वास्तु परम्पराओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिणामस्वरूप यहाँ की वास्तुकला के विकास में इसका स्थान नगण्य है। न ही इसकी गिनती सुन्दर इमारतों में की जा सकती है। तोड़े और छज्जे-जिन तत्वों से प्रकाश और छाया का सौन्दर्य आता है उनका इसमें सर्वथा अभाव है। ऊर्ध्वरचना में एक भट्टी मीनार के साथ एक भौंडा गुम्बद है जो बड़े वेमेल लगते हैं। विभिन्न अंगों में तालमेल न होने के कारण इमारत पैदावर्द लगी रंगीन गुदड़ी सी लगती है। स्पष्ट ही ईरानी पद्धति को यहाँ की भूमि पर बलपूर्वक थोपने का प्रयोग सफल नहीं हुआ।

बहमनी साम्राज्य के विवरण के पश्चात् उसमें कई स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। इनमें अहमदनगर के निजामगाही, बीजापुर के आदिलशाही और गोलकुण्डा के कुतुबशाही मुख्य हैं। इनका अकबर से लेकर औरंगजेब तक लगभग सौ वर्ष मुगलों से बड़ा कड़ा संघर्ष हुआ। १६८७ तक ये तीनों राज्य मुगल साम्राज्य में मिला लिए गए।

कुतुबशाहियों ने गोलकुण्डा में १५१२ से १६८७ तक राज्य किया और गोलकुण्डा और हैदराबाद में बड़ी-बड़ी सुन्दर मस्जिदें और मकबरे बनवाए। मस्जिदों में जामी मस्जिद और मक्का मस्जिद और मकबरों में मोहम्मद कुली और अबदुल्ला कुतुबशाह के मकबरे प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः उनकी सबसे सुन्दर इमारत हैदराबाद की चार मीनार है जिसका निर्माण १५१९ में विजय द्वार की तरह हुआ। यह बर्गाकार है और प्रत्येक मुजा १०० फीट लम्बी है। प्रत्येक मीनार १८६ फीट ऊँची है अर्थात् ताजमहल की मीनारों से ५४ फीट अधिक ऊँची। प्रत्येक मुख्य-पट में ३६ फीट ऊँड़ा एक विशाल महराब-द्वार दिया गया है (चित्र-५२)। वहाँ से अन्य सुन्दर तत्वों का सम्मिश्रण हुआ है। ऊर्ध्वरचना पर स्वपति ने विशेष ध्यान दिया है और कुल मिलाकर यह इमारत बड़ी सुन्दर लगती है।

बीजापुर में आदिलशाहियों के अधीन दक्षिण की सबसे अधिक सुन्दर और कलात्मक खूलती का विकास हुआ। आदिलशाहियों को इमारतें बनवाने का बड़ा गोक था और डेढ़ सौ वर्षों के अल्पकाल में उन्होंने अकेले बीजापुर नगर में ५० से अधिक मस्जिदें बीमियों मकबरे और महल बनवाए। संस्था में ही अधिक नहीं है, ये इमारतें अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की रखनाएँ भी हैं। इनमें जामी मस्जिद, इब्राहीम रौजा और गोल गुम्बद प्रतिनिधि इमारतें हैं।

बीजापुर की जामी मस्जिद का निर्माण शाली-जाह प्रथम के राज्यकाल (१५८०-८०) में हुआ। खुले आंगन के तीन और सुन्दर महराबोंदार दालान हैं। प्रवेशम की ओर आराधना भवन है। इनमें त्रिज्याकार महराबों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। बाहर तीढ़ों पर आधारित छज्जा लगाया गया है। आराधना भवन की छत पर बीचों-बीच में गुम्बद के आधार के चारों ओर महराबदार एक और मन्जिल दी गई है जिसके कोनों से चार लघु-मीनारें उठकर विशाल गुम्बद को चारों प्रोट से मुण्डोंभित करती हैं। गुम्बद कमल की खुलती हुई पंखुड़ियों के बीच में से ऐसा उठता है जैसे पृथ्वी आकाश को कोई चीज़ भेट में देने जा रही हो। बीजापुर की वास्तुशैली का सबसे विशिष्ट तत्त्व गुम्बद के आधार में खुलती हुई कमल की ये पंखुड़ियां ही हैं। स्पष्ट ही इसकी प्रेरणा भारतीय लोतों से ली गई।

इब्राहीम रौजे वा निर्माण इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५८०-१६२७) ने कराया। वास्तव में इसमें उसके मकबरे के अतिरिक्त एक सुन्दर मस्जिद भी है। दोनों ही वर्गाकार रचनाएँ हैं और एक ऊँची चौकी पर स्थित हैं। मकबरे को बड़े आकर्षक ढंग से संचारा गया है (चित्र-५३)। मुख्य कक्ष के चारों ओर महराबदार बरामदा है जिसके बाहर सुन्दर तोड़ों पर आधारित छज्जा है। चारों कोनों पर चार लघु-मीनारें (Turrets) हैं जिनके अण्डाकार गुम्बद कमल को पंखुड़ियों पर जैसे सहज ही रख-

दिए गए हैं। प्रधान गुम्बद भी ऐसे ही कमल की खुलती हुई पंखुड़ियों पर रखा गया है। गुम्बद लगभग सम्पूर्ण गोल है और कमल की पंखुड़ियों के साथ बड़ा सुन्दर लगता है। स्थपति ने ऊँचरचना के विन्यास पर सबसे अधिक ध्यान दिया है और यही अंग इस मकबरे के सौन्दर्य का विशिष्ट तत्त्व है। मस्जिद की रचना भी लगभग इससे मिलती-जुलती है। बीजापुर की सबसे अधिक प्रसिद्ध इमारत मोहम्मद आदिलशाह (१६२७-४७) का मकबरा है जिसे गोल गुम्बद कहते हैं। इसकी गिनती भारत की सबसे विशाल और भव्य इमारतों में होती है। यह बांगाकार है और प्रत्येक भुजा २०० फीट से अधिक लम्बी है। लगभग इतनी ही इसकी ऊँचाई है। चारों कोनों पर चार सम्बद्ध अण्डाहल्क मीनारे हैं। ये सात मञ्जिल की हैं। प्रत्येक में खुले लघु महराब दिए गए हैं। इनके ऊपर बही बीजापुरी गुम्बद है जो कमल की पंखुड़ियों पर आधारित है (चित्र-५४)। प्रत्येक भुजा में तोड़ों पर आधारित छज्जा, लघु महराब और छत पर लघु छत्रियों का प्रयोग किया गया है। मकबरे के अंदर केवल एक बड़ा हाल है जिसमें जाने के लिए दो ओर महराबदार द्वार हैं, दो ओर के महराब बन्द हैं। यह हाल १३५ फीट लम्बा है और गुम्बद तक इसकी ऊँचाई १७८ फीट है। इस प्रकार यह गुम्बद संसार का सबसे बड़ा और ऊँचा गुम्बद है। इसमें कोणात्मक महराबों का अत्यन्त सुभकूर्म और चतुरता से प्रयोग किया गया है और उन पर इस विशाल १० फीट मोटे एकहरे गुम्बद को संभाला गया है (चित्र-५५)। वास्तु का यह एक अद्भुत कमाल है जिसका इससे पहले का और कोई उदाहरण नहीं मिलता है। आयद यह भारतीय स्थपति की सृजनात्मक प्रतिभा की आपनी वृत्ति थी। इस मकबरे में अलंकरण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कलाकार का मूल्य ध्येय इसे विशाल और भव्य बनाना था और परिणामस्वरूप इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तु-कला के तत्त्वों के कारण है। इस दृष्टि से यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है।

मुग्ल वास्तु-शैली

बाबर और उसकी चार-वारा व्यवस्था

१५२६ई० में पानीपत के युद्ध में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हरा दिया। इब्राहीम मारा गया और उसके साथ ही लोदी साम्राज्य का अन्त हो गया। लगभग एक वर्ष पश्चात् ही बाबर का मेवाड़ के प्रतापी राणा संग्रामसिंह से खानवा के मैदान में भयंकर युद्ध हुआ। यहाँ भी तोपों और बन्दूकों और तुलुगमा युद्ध-पद्धति के प्रयोग से उसने घूरवोर राजपूतों को परास्त कर दिया। अफगानों से उसका युद्ध बराबर चलता रहा। आघरा के समीप बाबर ने उन्हें एक बार फिर हराया। दुर्भाग्य से वह बहुत कम जीवित रहा और १५३०ई० में आगरे में उसकी मृत्यु हो गई।

वह मध्य एशिया के फरगाना नामक प्रदेश का रहने वाला था। जब वह केवल १२ वर्ष का था तो उसके पिता उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हो गई और वह फरगाना को गही पर बैठा। उस समय फरगाना को तीन ओर से शत्रुओं ने घेर रखा था। इतनी कालची आयु में, इतनी विषम परिस्थितियों में उसने होश संभाला। किन्तु वह वह जीवट का व्यक्ति था। हड़ निश्चय और अदम्य साहस के साथ वह कठिनाइयों से जूझता रहा। उसने तीन बार समर-कन्द पर अधिकार किया। किन्तु शैबानी ता के नेतृत्व में उजबेकों ने उसे टिकने नहीं दिया। बड़े-बड़े युद्ध हुए जिनमें अधिकांशतः बाबर हार गया।

१५०५ में उसने काबुल पर अधिकार कर लिया। शीरे-धीरे उसने भारत विजय की तैयारियों को। अपनी सेना को आम्लेय अस्त्रों से सुसज्जित किया। पहले छूटपूट हमले किए। फिर १५२६ में पूरी तैयारी के साथ पंजाब के मैदानों में उतर पड़ा। यों उसने भारत में मुग्ल वंश की स्थापना की।

बाबर के बल कुशल सेनापति ही नहीं था। वह कला प्रेमी और सुसंकृत व्यक्ति भी था। उसे काव्य से बड़ा प्रेम था और स्वयं भी कविता करता था। प्रकृति से उसे बड़ा लगाव था। अपनी आत्मकथा में वह ऐसे बहुत से उल्लेख करता है जब वह युद्ध से हारकर भागा है और किसी भरने के किनारे बैठकर शराब के प्याले के सहारे शेरो-शायरी में दब जाया है।

जब बाबर आगरे में आया यहाँ भयंकर गर्भी पड़ रही थी। वह पहाड़ी प्रदेश का रहने वाला था और ऐसी हड्डिया गिरला देने वाली गर्भी उसने नहीं देखी थी। अपनी आत्मकथा में उसने इन कठिनाइयों का उल्लेख किया है। विशेषकर यहाँ की भूल, गर्भी और लू ने उसे बड़ा परेशान किया। यहाँ यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि न तो लोग योजनाबद्ध रूप से बाग लगाते हैं और न वहते हुए पानों की कोई कृत्रिम व्यवस्था करते हैं। उसे बाग लगाने का बड़ा गोक था और कई बड़े-बड़े बाग उसने काबुल में लगाए थे। समरकन्द के विशाल

उद्घानों को उसने स्वयं देखा था। फ़ारसी के कवियों जैसे फिरदौसी, सादी, हाफ़िज़ और खैज्याम की रचनाओं में उसने बागों के रोचक उल्लेखों का अध्ययन किया था। वास्तव में चारबाग और कृत्रिम जल व्यवस्था की इरानी पढ़ति से वह भलीभांति परिचित था। इसके अनुसार बाग को चार समान भागों में नहरों द्वारा बाट दिया जाता था (चिंताकन-?)। ठीक बीचों-बीच में आवास का महल या आमोदालय बनाया जाता था जिससे बाग उसके चारों ओर रहे। नहरों में फूलबारे लगाए जाते थे। पत्थर की बीचिकाएँ बनाई जाती थीं जिनके दोनों ओर ऊचे-ऊचे बृक्षों की पंक्तियाँ रोपी जाती थीं। बयारियों में फूलदार पीछे लगाए जाते थे। पानी को एक तल से दूसरे तल पर विविध विधानों द्वारा गिराया जाता था। कल-कल करते थे कृत्रिम झरने और फ़व्वारे मुन्दर ही नहीं लगते थे, ये बातावरण को ठंडा और मनोरम भी बना देते थे।

बाबर ने इस पढ़ति का सूत्रपात भारत में किया। उसने आमरे में कई बाग लगाये जिनमें बाग-ए-गुलशनों अभी शेष रह गया है। इसे अब रामबाग कहते हैं। उसने रहंट द्वारा पानी खीचने की व्यवस्था की। पत्थर की नालियों द्वारा यह पानी बाग में चारों ओर ले जाया गया। स्थान-स्थान पर पत्थर के ही तालाब और झरने बनाए गए। यह व्यवस्था आवास के महल में भी की गई। साथ-साथ पेड़ और पीछे लगाए गए। फिर इसी व्यवस्था द्वारा पानी को दूसरे तल पर उतारा गया। वहाँ फिर नालियों द्वारा उसे चारों ओर ले जाया गया। फिर तीसरे तल पर यही व्यवस्था की गई।

अर्थात् वास्तु के साथ दो अन्य तत्त्वों-बाग और पानी की कृत्रिम व्यवस्था-को अधिकाधिक मुन्दर रूप में सम्बद्ध कर दिया गया। अब तक अधिकाण्ड इमारतें एकाकी बनाई जाती थीं और बाग न तो उनकी पूर्वभूमि (setting) में होता था न पृष्ठभूमि (Back Ground) में। अब इमारत बाग के मध्य में ऐसे बनाई गई जैसे सोने की अंगूठी में तमीना जड़ दिया गया हो। उसके साथ वहते हुए पानी की व्यवस्था-नालियों, तालाबों, फ़व्वारों और झरनों-ने

चार चांद लगा दिए। इन तीनों तत्त्वों के जुलमिल जाने से एक अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हुई। बाबर के वंशजों ने अपने महल और मकबरे इसी चारबाग पढ़ति के अनुसार बनाए। स्वतन्त्र हप्ते भी बड़े-बड़े बागों का निर्माण मुगलकाल में हुआ। इस प्रकार बाबर को इस व्यवस्था ने मध्यकालीन वास्तुकला में कान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उसे एक नई परिभाषा, एक नया रूप और निश्चय ही एक नया सौन्दर्य प्राप्त हुआ। अब इमारत बनाना केवल स्थपति का ही काम नहीं था। उसके साथ बाग-व्यवस्था का विशेषज्ञ और जल-साधनों का इन्वेनियर भी सहयोग देते थे। मुगल इमारत अब एकाकी खड़ी दिखाई नहीं देती थी बरत पत्थर की नालियों और तालाबों से प्रियी हुई बाग के मध्य में प्रस्तुत की जाती थी। बाग और बहते हुए पानी की कृत्रिम व्यवस्था धोरे-धीरे मुगल वास्तुकला के अभिन्न अंग बन गए। हूमायूँ के मकबरे से लेकर ताजमहल तक-मुगल मकबरों के प्रस्तुतीकरण का लगभग सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तुकला के इस रचनाविधान के कारण है।

नए युग का अवतरण

हूमायूँ में अपने पिता जैसी योग्यता नहीं थी। वह आरामतलब और स्वभाव से सीधा व्यक्ति था। इस विषयमें स्थिति में व्यक्तित्व की जिस धार की आवश्यकता थी वह उसमें नहीं थी। १५३० से १५४० तक वह अफगानों से संघर्ष करता रहा। किन्तु अन्त में शेरशाह ने उसे बिलग्राम के मैदान में हरा दिया और भारत से बाहर खदेह दिया। हूमायूँ के काल की एक मस्जिद आगरे में जैष है जिसका निर्माण १५३० में हुआ था। यह पूर्व मुगल-काल की पंचमुखी योजना पर बनी है और मुगल वास्तुकला की कोई विशेषता इसमें नहीं है। वास्तव में भी मुगल वास्तुकला जैसी किसी बीली का जन्म ही नहीं हुआ था। इसका प्रारंभ अकबर के राज्यकाल से ही होता है।

१५५५ में हूमायूँ भारत लौट आया और उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। १५५६ में अकबर गढ़ी पर दौड़ा। उस समय उसकी आयु केवल १४ वर्ष की

थी। मुगलों के अधिकार में उस समय पंजाब के कुछ प्रदेश और दिल्ली और आगरा थे। ज़ारों और से अफगान मंडरा रहे थे। अकबर को विश्वास में ये विषय परिस्थितियाँ और यह नहां सा साम्राज्य मिला। किन्तु वह बड़ा बुद्धिमान और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। पढ़ा-लिखा न होने पर भी वह समस्याओं को मूलरूप में समझ लेता था। बाबर के समान ही उसमें लोह इच्छागति, अथक विश्वास, अदम्य साहस और अपार सुभद्रक थी। उसने स्थिति का गम्भीरता से भूल्याकृत किया। वह यह समझ गया कि अगर भारत में एक विश्वाल और स्थाई साम्राज्य का निर्माण करना है तो यहाँ की जनता का सहयोग और सोहाई प्राप्त करना आवश्यक है। सल्तनत काल में विभिन्न वंशों के उत्थान-पतन का मुख्य कारण यही था कि उन मुल्तानों ने कभी भी यहाँ को हिन्दू जनता का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया और विजेता के रूप में बलपूर्वक इस देश पर संनिक शासन करते रहे। यहाँ की संस्कृति के विकास में उन्होंने योगदान नहीं दिया। परिणामस्वरूप यहाँ की जनता ने कभी इस साम्राज्य में कोई रुचि नहीं ली।

अकबर ने १५६० में राज्य की बागडोर स्वयं संभाल ली। उसने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का प्रारम्भ किया। उसने ज़जिया समाप्त कर दिया। अन्य अपमानजनक कर भी जो हिन्दुओं से बमूल किए जाते थे बन्द कर दिए गए। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। अब वे अपने धर्म का पालन स्वल्पन्द रूप से कर सकते थे। सल्तनत काल से चली आ रही धार्मिक अत्याचार की नीति का अन्त हो गया। भारतीय समाज में हिन्दुओं को समान स्तर दिया जाने लगा। उनके लिये संनिक और असंनिक सरकारी पद भी खोल दिए गए।

अकबर ने शूरवोर राजपूतों से मैत्री स्थापित करने की नीति अपनाई। उसने अम्बर (जयपुर) जोधपुर, बीकानेर आदि बड़े-बड़े राजपूत राजाओं से सम्बन्ध करली और उन्हें दरबार में बड़े-बड़े मनसब प्रदान किए। यह कहना सही नहीं है कि ये सम्बन्धों मूल रूप से वैवाहिक थीं। अकबर प्रत्येक

राजा से चार बातें चाहता था : वह राजा मुगल मनसबदार बन जाए और एक निश्चित वैतन दरबार से ले; वह आवश्यकता के समय अपनी सेना के साथ उपस्थित रहे; वह अपने आपको मुगल साम्राज्य का अभिन्न घंग समझे; और अपनी विदेश नीति अकबर को समर्पित करदे। अकबर कभी भी उसके परे लू मामलों में दखल नहीं देता था। स्मरण रखने की बात यह है उसका राणा प्रताप से संबंध व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर सिजदा करने की गति के कारण अधिक था, मूलरूप से किसी मौद्रिक नीति के कारण नहीं। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि जहाँ उसने सभी छोटे-छोटे मुसलमान राज्यों को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया, उसने राजपूत राज्यों को समाप्त नहीं किया और उन्हें लगभग स्वतन्त्र बने रहने दिया। उसका द्येय इन योद्धाओं की मैत्री प्राप्त करना था। कालान्तर में इन्हीं राजपूतों की तीखी तलवारों ने मुगल साम्राज्य का विस्तार किया और इन्हीं के टड़ कन्धों पर यह साम्राज्य टिका रहा।

अकबर ने यहाँ की संस्कृति को दिल्ली मुल्तान की तरह ठुकराया नहीं उसे प्रोत्साहन दिया। उसने भारतीय वेष-भूषा को उपयुक्त परिवर्तन करके अपना लिया। यहाँ के रीति-रिवाज तीजत्यौहार मुगल दरबार में मनाए जाने लगे जैसे रकाबन्धन और दुग्धदूध। हिन्दुओं के भरोला दर्शन और तुलादान मुगल दरबार के सांस्कृतिक कार्यक्रम बन गए। अकबर कभी-कभी तिलक लगाता था और मूर्य को नमस्कार करता था। हिन्दू और जैन पंडितों और योगियों का वह बड़ा सम्मान करता था।

उसकी इन उदार नीतियों के फलस्वरूप एक नए युग का अवतरण हुआ। अब तक प्रताडित हिन्दुओं ने देखा, उनके धार्मिक ग्रन्थों का अब फारसी में अनुवाद किया जा रहा था। उनके राग अब मुगल दरबार में गाए जाते थे। अपनांश के चित्रकार अब मुगल दरबार में नियुक्त थे। उनके मन्दिरों की पढ़ति पर अब भवन निर्माण कार्य हो रहा था। हिन्दू मुसलमान वा भेद नहीं था। सारे देश में एक जबलस्ता थी; एक सांस्कृतिक सूत्र में सारे देश को बांधने का प्रयत्न किया जा रहा था।

इस शासन अवस्था का संचालन राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा था। पहली बार हिन्दुओं ने इस राज्य को अपना राज्य और इस सज्जाट को अपना सज्जाट माना। इसी नए युग को विभिन्न सांस्कृतिक सिद्धान्तों, परम्पराओं और गैलियों को जन्म देने का ऐसे प्राप्त होता है।

हूमायूँ का मकबरा

मुग्ल वास्तु-शैली की सबसे पहली सुन्दर कृति दिल्ली में स्थित हूमायूँ का मकबरा है (चित्र-५६)। इसका निर्माण १५६४ और १५७० के मध्य हूमायूँ की एक रानी हाजी बेगम ने कराया। चार-बाग पद्धति पर ही इसकी योजना बनाई गई है। सम्पूर्ण बाग को चार समान भागों में बाँट दिया गया है। मुख्य मकबरा बाग के ठीक बीच में स्थित है। इसे चारों प्राचीरों के मध्य में स्थित द्वारों से बीचिकाओं द्वारा जोड़ा गया है। मुख्य-द्वार पश्चिम की ओर है। नियमित रूप से पानी की नालियां और तालाब बनाए गए हैं। नालियों में सुन्दर झरनों का विधान किया गया है जिनमें कलकल पानी की गिरता रहता है। सभीप ही फूलों की क्यारियां हैं। इनमें स्लिले हुए रंग विरणे फूल उच्च-उच्चक कर गिरते हुए पानी की शोभा देख रहे हैं। ऐसे सुन्दर रमणीक वातावरण के मध्य में मकबरे का विधान किया गया है। इन प्राकृतिक तत्त्वों के कारण इमारत बड़े सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत होती है।

मुख्य मकबरा २२ फीट ऊँची महराबदार चौकी (Pinnish) के बीचोबीच में स्थित है। यह बगाँकार है किन्तु कोनों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे अठपहलू प्रतीत हो। इमारत के प्रत्येक मुख्य-पट के मध्य में एक विशाल महराब है जिसके ऊपर बगाँकार छत्रियां और दोनों ओर लघु मीनारें हैं। मुख्य महराब के दोनों ओर उप-महराब बनाए गए हैं। कुछ भागों को आगे बढ़ा दिया गया है, कुछ कोनों को काट दिया गया है। यह विधान बड़े मुश्चिपूरण ढंग से हुआ है और बड़ा सुन्दर लगता है। अन्दर मध्य में एक अठपहलू हाल है, चारों कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं और भुजाओं में चार अन्य कमरे हैं। सब आलिन्दो (Corridors)

द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। सबसे ऊपर एक विशाल दुहरा गुम्बद है जिसके चारों ओर चार छत्रियां हैं। गुम्बद बल्बाकार है। उस पर पद्मकोश या कलश नहीं है। छत्रियां गुम्बद से कुछ अधिक हट गई हैं। अगर वे कुछ और समीप होती तो ऊर्ध्व रेखा कहीं अधिक सुन्दर लगती। रचना पृथ्वी की है जिसमें श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है।

चार-बाग पद्धति का सूत्रपात तो बाबर ने किया किन्तु इमारत की चतुर्मुखी बगाँकार योजना से भारतीय बारीगर परिचित था। हमारे यहा सर्वतो भद्र मन्दिर इसी शैली पर बनते थे। इसमें केन्द्र में गर्भ-गृह और चारों ओर चार मण्डप होते थे। गर्भ-गृह के ऊपर मुख्य शिखर और मण्डपों के ऊपर चार उप-शिखर होते थे और ऊर्ध्व रेखा पर इस प्रकार पञ्चरत्न विधान बनता था। हूमायूँ के मकबरे में मूलरूप से यही योजना है और अनुमान है कि इसकी प्रेरणा भारतीय वास्तु-सिद्धान्तों से ली गई।

हूमायूँ का मकबरा मुग्ल वास्तुकला की उत्कृष्ट कृति है। इसमें विभिन्न प्ररणाओं का सुन्दर समामेलन हुआ है। गुम्बद के साथ छत्रियों का प्रयोग यहाँ आकर परिपक्व अवस्था को पहुँचा और आगे चलकर ताजमहल में उसका चरम सौन्दर्य प्रकट हुआ। इसमें महराब के साथ शीर्ष पर भी छत्रियों का सुन्दर प्रयोग किया गया। लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का उपयोग बड़ी कुशलता से हुआ है। इमारत के विभिन्न भागों में तालमेल बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी मकबरे को आवश्यक ऊँचाई (Elevation) नहीं दिया जा सका है। इस दोष को स्थपति ने अन्य मकबरों में ठीक किया है। हूमायूँ के मकबरे का इस दृष्टि से मुग्ल मकबरों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। ताजमहल ने भी रचनाविधि की मूल प्रेरणा इसी मकबरे से ली।

मुहम्मद गौस का मकबरा

लगभग उसके समकालीन ही खालियर में प्रसिद्ध सूफी सन्त मुहम्मद गौस के मकबरे का निर्माण हुआ। इसकी रचना-विधि कुछ भिन्न है।

मध्य में एक वर्गिकार हाल है जिसके चारों ओर बरामदा है। ऊपर छज्जा दिया गया है। छज्जे के तोड़े बड़े कलात्मक हैं। बरामदे को सुन्दर डिजाइनों में काटी हुई पत्थर की जालियों द्वारा मुख्य द्वार को छोड़कर चारों ओर से बन्द कर दिया गया है। ये जालियाँ भी बड़ी सुन्दर लगती हैं। छज्जे के तोड़े और जालियों को देखकर अनुमान होता है कि इसकी रचना में गुजरात के कारीगरों ने भाग लिया होगा। ये दोनों ही तत्त्व स्पष्ट ही गुजरात की कला से प्रेरित हैं। हाल के ऊपर कोण-महरावों पर आधारित एक विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियाँ हैं। (चित्र-५७)

इस मकबरे में एक और विशिष्ट तत्व का सूत्रपात हुआ। इसके चारों कोनों पर और प्रत्येक मुजा के मध्य में अट्टालिकाएं (Towers) सम्बद्ध की गई। कोनों की अट्टालिकाएं घट्पहलू और तिमंजिली हैं जिनमें सबसे ऊपर छत्रियाँ हैं। मुजाओं के मध्य में इनकी रचना वर्गिकार है। इनके ऊपर की छत्री भी वर्गिकार है। ऊब्बे रचना में छत्रियाँ देने की योजना के अनुसार ही इनका विधान किया गया है। गुम्बद को चारों ओर से विभिन्न तर्तों में विभिन्न प्रकार के छत्रियों द्वारा ऐसे घेर दिया गया है जैसे कमल के फूल के चारों ओर पत्ते गिर जाते हैं। इससे इस इमारत का सौन्दर्य निखर उठा है। छत्रियों लिये हुए सम्बद्ध अट्टालिकाओं का प्रयोग बाद में बड़े व्यापक स्तर पर आगरे में अकबर के मकबरे में किया गया और निश्चय ही वहां इस तत्व की प्रेरणा मुहम्मद गोस के मकबरे से ली गई। इस दृष्टि से इस इमारत का मुगल वास्तुकला के विकास में बड़ा महत्व है।

अकबरी शैली की इमारतें

अकबर ने १५६५ में आगरे को राजधानी बनाया। १५७१ में वह फतेहपुर सीकरी जाकर रहने लगा। इन दोनों ही नगरों में उसने बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई हैं। उसने गुजरात, राजस्थान और अन्य प्रान्तों से देशी कारीगर बुलवाये और उन्हें निर्माण-कार्य में लगा दिया। रेतीला लाल पत्थर वहां बहुतायत से मिलता है और इसी पत्थर से इन इमारतों का निर्माण हुआ। अकबर किसी

धार्मिक अंकुश का कायल नहीं था और उसने इन कारीगरों को अपने हांग से कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की। इन कारीगरों में गुजरात के कारीगर प्रमुख थे। इनके पूर्वज पहले लकड़ी की इमारतें बनाते थे। लकड़ी के ही सम्मे, सर्पाकार तोड़े, तोरण, प्रसादिकाएं आदि तत्व बनते थे। धीरे-धीरे उन्होंने पत्थर में काम करना प्रारम्भ किया और यही तत्व पत्थर में बनाए जाने लगे। मूल कमनीयता बनी रही। प्राचीनकाल में ये लोग हिन्दू और जैनों के मन्दिर बनाते थे, महमदशाही शासकों के अधीन उन्होंने लगभग इन्हीं तत्वों से मस्जिदों और मकबरों का निर्माण किया। उन्हीं के साथ ये तत्व आगरे और फतेहपुर सीकरी आए। अकबर की इमारतों में इन तत्वों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है और इस प्रकार इन इमारतों की अपनी एक विशेष शैली बन गई जिसमें महराब और गुम्बद तो हैं किन्तु जिसमें इनसे कहीं अधिक व्यापक प्रयोग लगभों, तोड़ों, छज्जों, प्रसादिकाओं और छत्रियों का हुआ है। रचना अधिकांशतः क्षेत्रिज है। पत्थर में कटाई के काम द्वारा अलंकरण किया गया है। सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ है। इस्ताम में जीवधारियों की अनुकूलियाँ बनाना वर्जित होते हुए भी इस शैली के अन्तर्गत इनका व्यापक वित्तण हुआ है। हिन्दुओं के कमल, चक्र, स्वस्तिक, पूर्ण-घट आदि रूपकों को भी मुक्त-हृस्त प्रयोग किया गया है।

अकबर ने १५६५ में आगरे के किले का पुनर्निर्माण आरम्भ कराया। पहले यह दुर्ग ईटों का था। अब इसे लाल पत्थर का बनाया गया। अत्यन्त ऊची, हड़ और प्रशस्त प्राकारे बनाई गई जिनमें दन्तुकों और तोपों के युद्ध के अनुसार कंभूरों, ढलवां छिद्रों और भिरियों का विधान किया गया। सैनिक दृष्टि से इस प्रकार इस दुर्ग को लगभग अभेद बना दिया गया। अबुलफज्ल के अनुसार अकबर ने इस किले में लगभग ५०० से ऊपर इमारतें बनवाई हैं। इनमें से अब केवल देहली और अमरसिंह द्वार और अकबरी और जहांगीरी महल आदि ही शेष रह गये हैं।

आगरे के किले में मूलरूप से चार द्वार थे।

इनमें दो बन्द कर दिए गए और दो अब शेष हैं। दिल्ली द्वार का निर्माण १५६६ में पूर्ण हुआ और अनुमान है कि अमरसिंह द्वार^१ जिसे मूलरूप से अकबर-दरवाजा कहते थे इसके समकालीन ही बना (चित्र-५८)। दोनों बाहर बनना विषयान एकसा है। खाई के ऊपर एक उठने वाला पुल है जिसमें कभी भी किले का मुख्यभूमि से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता था। अन्दर अत्यन्त चड़ावदार मार्ग बनाया गया है जो स्थान-स्थान पर सीधा मुड़ जाता है। चड़ाव और ऐसे तीखे भोड़ों के कारण हाथी और तोपों को आगे बढ़ने में बड़ी कठिनाई हो सकती थी। ये भोड़ बड़े खतरनाक थे व्याकुल यहाँ आक्रमक सेना घूमने के लिये रुकती थी और ऊपर से बन्दुकों से उसे सहज ही निशाना बनाया जा सकता था (चित्रांकन-२)। इस योजना का इस प्रकार सैनिक हृष्टिकोण से बड़ा महत्व है। ये गढ़ मेंदानी किलों में सबसे अधिक हड़ माना जाता है और सहज ही इस पर अधिकार करना सम्भव नहीं है। अकबर के राज्यकाल में विद्रोही सलीम ने और उसके राज्यकाल में उसके पुत्र गाहजहाँ ने इस किले को जीतने का प्रयत्न किया किन्तु वे सफल नहीं हो सके। १६५८ में अंगरेजों भी इस किले की पानी की व्यवस्था को बन्द करके सआट द्वारा समर्पण किये जाने पर ही इस पर अधिकार कर सका था।

दिल्ली द्वार के बाहर सैनिक हृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण नहीं है उसे बड़े सुन्दर ढंग से अलंकृत भी किया गया है। द्वार के दोनों ओर छत्रियोंदार विशाल अद्वालिकाएँ हैं और ऊपर कई मंजिल का महल (चित्र-५९) है। पत्थर की कटाई के काम के अतिरिक्त श्वेत समरमर में जड़ाऊ काम रंगीन चित्रकारी चूने का प्रलंकरण और रंगीन टाइल्स का काम भी किया गया है। इसके दोनों ओर दो विशाल हाथी बने थे जिन पर जनश्रुति के अनुसार चित्तोड़ के बीर रक्षक

जयमज और फत्ता की प्रतिमाएँ विराजमान थीं। कालान्तर में इन्हें तोड़ दिया गया। इस द्वार को इसलिए हाथिया-पौर या हाथी-पोल भी कहते हैं।

जहांगीरी महल अकबर के काल को एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है। इसका यह नाम १६ वीं शताब्दी में पत्थर के उस होज के कारण पड़ गया जिसे जहांगीर ने १६११ में बनवाया था और जो इस महल के सामने गढ़ा पाया गया और अब भी इसके मुख्य द्वार के सामने रखा है। वास्तव में इस महल को अकबर ने ही अपने रत्नवास के लिए बनवाया था। मुख्यपट की योजना बड़ी आलकारिक है। कुत्रिम महाराजों के ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा और खुले हुए दर बड़े अच्छे लगते हैं। दोनों ओर दो अद्वालिकाएँ और उन पर बड़ी आकर्षक छत्रियाँ हैं (चित्र-६०)। अन्दर एक विशाल आंगन है जिसके चारों ओर कमरों, हाल बीघिकाओं का आयोजन किया गया है। उत्तरी हाल में मकर की आकृति के तोड़ों की छत का बोझ संभालने के लिए काम में लाया गया (चित्र-६१) है। यह बड़ी सुन्दर विधि है। अन्य कमरों में समतल छतों की विविध विधियों का प्रयोग हुआ है। आंगन के चारों ओर अत्यन्त कलात्मक तोड़ों पर छज्जा आधारित किया गया है। ऊपर की मंजिल में महराव की आकृति के भरोखों की प्रृथक्का दी गयी है। यहाँ भी बड़े आकर्षक तोड़ों का प्रयोग हुआ है (चित्र-६२)। शीर्ष पर छत्रियाँ हैं। सबसे ऊपर की मंजिल में कातिकेय का विशाल मन्दिर या जिसके मध्याकृति के तोड़े अब भी बेष्ट रह गये हैं (चित्र-६३)। इस विशाल महल की सम्पूर्ण रचना लाल पत्थर की है और उसमें खम्भे, ताङे, छुजे और छत्रियों का अधिक प्रयोग किया गया है। हंस, हाथी, तोते, मोर और मकर की अनुकृतियाँ हैं। कमल और शीबत्स के रूपक हैं। स्पष्ट ही यह महल हिन्दू मन्दिर-सा लगता है। यह अकबर की बास्तु योंगों का सही शब्द में परिचायक है।

१ इसका यह नाम १६४४ में हुई अमरसिंह राठोर के घटना के कारण पड़ गया। अमरसिंह भारवाह के राजा जसवन्तसिंह के बड़े भाई से प्रीर दरवार में मनसबदाह थे। किसी बात पर तकरार होने पर उन्होंने मोरबद्धी स्वामत स्वामी का मटे दरवार में बढ़ कर दिया। अमासान लड़ाई हुई जिसमें अमरसिंह और उनके साथी मारे गये। यह कहना सही नहीं है कि वे धोड़े पर बैठकर खाई के पार कूद कर भाग गये। इस द्वार के समीप पहले तो पत्थर का योड़ा बना हुआ था वह अब जो द्वारा बनवाया गया था।

अकबर ने १५७२ में फतेहपुर सीकरी जाकर रहना प्रारम्भ किया। वहाँ १५८६ में साम्राज्य के उत्तराधिकारी शाहजादा सलीम का जन्म हुआ था और यह स्थान बड़ा शुभ समझा जाता था। किन्तु अकबर के फतेहपुर सीकरी को बसाने का केवल यही कारण नहीं था। फतेहपुर सीकरी की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण है। यह राजस्थान का द्वार कहलाता है। १५७१ में गुजरात के सम्पन्न प्रान्त को जीत लिया गया था। इससे राजस्थान का महत्व बढ़ गया। वंसे भी अकबर राजपूतों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति का पालन करता था। राजस्थान उसकी कृष्टनाति को आधारिता था। राजस्थान से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखना इसलिए आवश्यक था। १५७१ से १५८४ तक अकबर बराबर फतेहपुर सीकरी में रहा। १५८४ में वह लाहौर चला गया। यह कहना सही नहीं है कि पानी की किसी कमी के कारण फतेहपुर सीकरी को छोड़ दिया गया। पानी की दो बड़ी व्यवस्थाएं वहाँ अब तक बेष्ट हैं जिनसे रहठ द्वारा पानी ऊपर चढ़ाया जाता था और नालियों द्वारा तालाबों में पहुँचाया जाता था। आवास के महलों में पानी की समुचित व्यवस्था थी। इनसे हम्मामों को भी पानी पहुँचाया जाता था। स्मरणरत रखने की बात है कि भारत में जितने बड़े-बड़े और सुन्दर हम्माम^१ फतेहपुर सीकरी में हैं उतने कहीं नहीं हैं। इन बालीस हम्मामों में से लगभग एक दर्जन हम्माम अभी ज्यों के त्यों लेप रह गये हैं। ये भी यही इंगित करते हैं कि फतेहपुर सीकरी में पानी की कोई कमी नहीं थी। वास्तव में अकबर के यहाँ से जाने का कारण उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर खुरासान के शासक अब्दुल्ला खाँ उज्जेक का सकट था। वह ललचायी अंतों से काबुल की ओर देख रहा था और उस पर निगाह रखना आवश्यक था। अकबर अपनी सबसे सशक्त सेना और मानसिंह जैसे योग्य सेनापतियों के साथ पंजाब पहुँच गया और ११ वर्ष लगभग वहाँ रहा। १५८५ में अब्दुल्लाखाँ की मृत्यु हो गयी और अकबर निष्पत्त होकर आगरे लोट आया।

फतेहपुर सीकरी में अकबर के जाकर रहने के फलस्वरूप बड़े-बड़ी इमारतों का निर्माण हुआ। इनमें जामी मस्जिद, सलीम चिश्ती का मकबरा और कुछ महल जैसे तथाकथित जोधपाई और बीरबल के महल, मरियम और सुल्ताना के महल, खुबगाह और पञ्चमहल, और तथाकथित दीवाने-खास और दीवानेआम मुख्य हैं। जामी मस्जिद का निर्माण १५७१ में हुआ। यह भारत की सर्वश्रेष्ठ मस्जिदों में गिनी जाती है। मध्य में एक विशाल आगान है जिसके उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर खम्मोदार चौड़े दालान हैं (चित्रांकन-३)। उनके मध्य में एक-एक विशाल द्वार था। पूर्व का बादशाही दरवाजा ज्यों का त्यों है। उत्तर के द्वार को बन्द करके काबिस्तान में मिला दिया गया है। दक्षिण के मूल द्वार को तोड़कर दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश (अहमदनगर असीरगढ़ आदि) को जीतने के उपलब्ध में १६०१ में बुलन्द दरवाजा का निर्माण हुआ। १७६ फीट ऊँचा यह दरवाजा भौतिक के सर्वोच्च ढारों में गिना जाता है। लाल और भूरे पत्थर में बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से इसका निर्माण हुआ है (चित्र-६४)। चौड़ी सीढ़ियों के अन्त में विशाल महराब है जिसके ऊपर छानियों का बड़ा सुन्दर संयोजन हुआ है। पत्थर में कटाई के अतिरिक्त संगमरमर द्वारा जड़ाक काम भी किया गया है। कुछ भाग आगे बढ़ाकर प्रकाश में लाये गये हैं, कुछ में दर बनाये गए हैं और इस प्रकार छाया और प्रकाश के सिद्धान्त के द्वारा कृति को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह दरवाजा मस्जिद का एक गौण अंग होते हुए भी अपने आप में एक विशाल और भव्य इमारत है। यह उस युग की शाक-शैक्त और नवीन वास्तु विधानों को रचना करने की क्षमता का परिचय कराता है।

आंगन के पश्चिम की ओर आराधना-भवन है। इसके मुख्यपट के मध्य में एक विशाल महराब है और दोनों ओर खम्मों पर आधारित महराबों की शृंखला है। इनके ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा और सबसे ऊपर बगाकार छत्रियाँ हैं।

१. मुग्जल हम्माम केवल नहाने का स्थान नहीं था। वह गर्भी के भोसम में प्रयोग में लाने के लिये वातानुकूलित आवास का महल था। उसमें तालाब, फुहारे, नालियों आदि बहते हुए पानी की समुचित व्यवस्था रहती थी।

(चित्र-६५) आगत के तीनों ओर स्थित दलानों के ऊपर भी यही व्यवस्था है। ऊर्ध्व रचना में छत्रियों का यह क्रमिक विन्यास बड़ा सुन्दर लगता है। आराधना-भवन का मूल्य कक्ष वर्गकार है और कोण महराबों द्वारा इसके ऊपर एक विशाल गुम्बद बनाया गया है। इस पर बड़े सुन्दर पदकोण आमलक और कलश का प्रयोग हुआ है।

मुख्य कक्ष (Nave) के दोनों ओर के स्कन्थों की ओजना बड़ी सुन्दर है। प्रत्येक स्कन्थ को तीन भागों में बाँट दिया गया है। मध्य में एक वर्गकार कक्ष है जिसकी कोनों में बाहर की ओर निकली हुई धोतिज शिलाएँ देकर अठपहलू बनाया गया है और फिर उस पर धारियोंदार गोल छत बनाई गई है। इस कक्ष के दोनों ओर खम्भोंदार दलान हैं। स्पष्ट ही मस्जिद में २८ फीट ऊंचे इन खम्भों के प्रयोग की प्रेरणा गुजरात की मस्जिदों से आई। पश्चिम की दीवार में कम से महराबों की शृंखला है। रचना लाल पत्थर की है। कहीं-कहीं रसीन पत्थरों से जड़ाक काम किया गया है। परम्परागत पत्थर की कटाई का काम तो ही ही इस मस्जिद में में बड़ा सुन्दर रंगीन चित्रकारी का काम भी किया गया है। इस मस्जिद को सजाने और सुन्दर से सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने में कोई कमी नहीं रखी गई है। साथ-साथ इसमें दोनों विहियों को बड़े प्रशंसनीय ढंग से समन्वित किया गया है। खम्भों के साथ महराबों का उपयोग हुआ है जिनमें पूर्व-मूर्खलकाल की बछों के फलों की माला लगाई गई है। धोतिज तत्त्वों के साथ गुम्बद बनाया गया है। मुस्लिम और हिन्दू दोनों तत्त्व छुलमिल गये हैं और मम्पुरां रचना-विन्यास स्वरूप है।

सलीम चित्ती के मकबरे का निर्माण १५८१ के लगभग हुआ। मूल रूप से यह लाल पत्थर का था, बाद में ज्यों का त्यों संगमरमर में बना दिया गया। यह वर्गकार है किन्तु दक्षिण में मूल्य डार से सौदियोंदार एक मुख मण्डप सम्बद्ध कर दिया गया है। यह हिन्दू मन्दिरों की ओजना से प्रेरित है। वर्गकार मूल्य कक्ष में सन्त की कब्र है। इसके चारों ओर श्वेत संगमरमर का जालियोंदार चौड़ा बारामदा है। मुख्य कक्ष के ऊपर गुम्बद है। बरामदे

की छतें बगों में बाँटकर कोनों पर शिलाएँ रख रखकर हिन्दू पढ़ति पर बनाई गयी हैं। रेखाकृत डिजाइनों में बड़ी सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ है। किन्तु इस मकबरे की विशेषता इसके बाहर चारों ओर छज्जे को संभालने के लिये सर्पाकार तोड़ों (Sistrus) का प्रयोग है। इन तोड़ों की कटाई बड़ी आकर्षक है। लगता है श्वेत संगमरमर के नहीं बने हैं हाथी दांत के हैं। मुख मण्डप के कलात्मक खम्भों के साथ तो ये तोड़े और भी अधिक अच्छे लगते हैं (चित्र-६६)। बास्तव में इनका प्रयोग छज्जे का बोझ संभालने के लिये कम और इमारत को एक अद्भुत सौन्दर्य देने के लिए अधिक किया गया है। गुजरात में इन तोड़ों का बड़ा प्रचलन था और स्पष्ट ही यह तत्त्व भी फतेहपुर सीकरी में गुजरात के कारीगरों के साथ आया। इससे पहले इनका प्रयोग समीप ही स्थित संगतराणों की मस्जिद में किया गया था। इस प्रकार इस छोटे से किन्तु सुन्दर मकबरे के तीनों विशिष्ट तत्त्व-महीन कलात्मक जालियाँ (चित्र-६७) मुख-मण्डप और सर्पाकार तोड़ों की शृंखला-गुबरात की कला से प्रेरित हैं। यह प्रशंसनी की बात है कि अकबर ने निस्संकोच इन तत्त्वों को त्वीकार किया और इन्हें इस मकबरे में प्रयोग करने की छूट देंदी।

अकबर के बनवाए हुए महलों में जोधबाई का महल सबसे बड़ा है (चित्र-६८)। यह अकबर का रनिवास था और इसे जोधबाई का महल कहना उचित नहीं है। स्मरण रखने की बात है कि जोधबाई नामक केवल एक ही स्त्री मुगल इतिहास में हुई है। वह जहांगीर की व्याही थी। उसका नाम बानमती था। जोधपुर की राजकुमारी होने के कारण उसे जोधबाई कहते थे। कालान्तर में उसने शहजादा खुरम (जाहजहाँ) को जन्म दिया जो १६२८ में गढ़ी पर बैठा। अकबर की उस रानी का नाम जो सलीम की माँ थी जोधबाई या जोधबाई नहीं था। मुगल इतिहासकारों ने मरियम-उज़-जमानी के नाम से उसका उल्लेख किया है। उसके राजपूत नाम का पता नहीं चलता और उसका घर्मवर की राजकुमारी होना भी सत्त्वेहास्पद लगता है।

मुगल इमारतों के नामों के विषय में बही आंति है। ये नाम अधिकांशः गाइड लोगों द्वारा गढ़े हुए हैं और उनके इतिहास पर प्रकाश नहीं ढालते। बात बास्तव में यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने जहाँ दरबार से सम्बद्ध बहुत-सी बातों का विस्तृत वरण किया है, इमारतों के विषय में वे लगभग मौन हैं। विदेशी यात्री जो १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भारत आये वे भी इस विषय में अधिक सहायक नहीं होते हैं। १६ वीं शताब्दी में इन इमारतों के विविवत् रस-रखाव का कार्य प्रारम्भ हुआ और तभी उनके इतिहास के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। उस समय जैसा जिसे सूझा लिख दिया और यों बहुत-सी अनेतिहासिक बातें हन इमारतों के इतिहास के साथ जुड़ गईं। वे कहानियाँ अब तक प्रचलन में चली आ रही हैं। इतिहास का पुनर्निर्माण तो किया जा सकता है किन्तु इमारतों को अब नये नाम देना सम्भव नहीं है। स्वयं 'मुगल' शब्द भी इतिहास की हटिट से सही नहीं है क्योंकि बावर मां की ओर से चंगेज़ खां का वंशज था और पिता की ओर से तैमूरलंग का और भारत में जिस वंश को स्थापना उसने की उसे चंगताई वंश कहना चाहिए। किन्तु मुगल जब्द हतना अधिक प्रचलित है कि उसे बदल देना असम्भव है।

जोधपाई के महल में पूर्व की ओर एक सुन्दर द्वार और पोली है, जोष सब तरफ से ऊची ऊची प्राचीरों द्वारा बह बन्द है। बाहरी दीवार में दूसरी मजिल में स्थान-स्थान पर प्रसादिकाएँ बनाई गयी हैं जो भरोखों-सी सुन्दर लगती हैं। पोली भी शैंगन में सीधी नहीं खुलती है बरन मुड़कर जाती है जिससे बाहर से आंगन में नहीं देखा जा सकता है। यह विन्यास भव्यकाल में प्रचलित पदों की प्रवा के अनुसार किया गया था। अन्दर महल को हवादार बनाए रखने के लिए बीचों-बीच में एक विशाल शैंगन है जिसके चारों प्रोर आवास के भवनों की व्यवस्था है। चारों शुजाओं के मध्य में वने भवन विशेषरूप से सजाये गए हैं। ये दुमजिल हैं। नीचे जैन मन्दिरों के कोणात्मक खम्भों और दीवार में तोरणों का प्रयोग किया गया है। जालियोंदार

प्रसादिकाएँ दी गयी हैं। ऊपर छत्रियाँ बनाई गयी हैं। इनमें भी पश्चिम की ओर स्थित भवन कदाचित् मन्दिर की तरह प्रयुक्त होता था। अत्यन्त कलात्मक तोरणों से सज्जित आलय आवास मूर्तियों रखने के काम आते होंगे। मन्दिरों जैसे भुके आसन भी बड़े सुन्दर लगते हैं। सम्मुखीं रखना पत्थर की है। इनमें कमल चक्र और शीवलत्स तो हैं ही चित्र-बलरी (Frieze) पर हंसों की पंक्तियाँ भी अंकित की गयी हैं। कोनों पर ऊपर की मञ्जिल में गुम्बददार कक्ष बनाये गए हैं। उत्तर और दक्षिण के भवनों की छतें ढलवां और खपरेल के डिजाइन की हैं और उन पर रंगीन टाइल्स का काम किया गया है। दक्षिण की ओर स्नानागार हम्माम और दासियों के रहने की व्यवस्था है।

इसके समीप ही उत्तर पश्चिम में बीरबल का महल स्थित है (चित्र-६६)। यह नाम भी अनेतिहासिक है। इसे न तो बीरबल ने बनवाया और न बीरबल वहाँ रहता ही था। यह सम्भव नहीं है कि रनिवास के समीप बीरबल को रहने की आज्ञा दी गयी हो। दोनों महलों के भरोसे इसने निकट है कि ककड़ियाँ फैकी जा सकती हैं। बास्तव में इसे अकबर ने स्वयं अपने आवास के लिये बनवाया था और फतेहपुर सीकरी के महलों में यह सबसे अधिक अलंकृत महल है। नीचे दो तरफ दो पौलियाँ और चार कमरे हैं। चारों तरफ एक विशाल छज्जा है जिसे अत्यन्त कलात्मक तोड़ों पर आधारित किया गया है। इन तोड़ों की कटाई दर्शनीय है और यह सिद्ध कर देती है कि भारतीय कारीगर पत्थर को मोम की तरफ से कांट-छांट सकता था। दीवारों पर भी सुन्दर डिजाइन काटे गये हैं। इनमें शैली करित (Stylized) फूल पत्तियों के डिजाइन और रेखाङ्कित डिजाइन मुख्य हैं। हाथी, हंस, तोते, और मोरों का प्रयोग किया गया है। हिन्दू रूपक दिना किसी हिचकिचाहट के प्रयुक्त हुए हैं। छतों तक पर अलंकरण किया गया है। फिर भी यह असुन्दर नहीं लगता, न आखों थकती हैं। विविध डिजाइनों के भेल के कारण इस अलंकरण में एकाकीपन नहीं है। ऊपर दुहरे गुम्बदों का प्रयोग किया गया है। इन पर पदकोल

और कलश हैं। इन गुम्बदों और रेखाकृत डिजाइनों के अतिरिक्त इस इमारत की सारी साज-सज्जा विशुद्ध हिन्दू है।

जोधावाई के महल के पड़ोस में ही मरियम का दुम्जिला महल स्थित है। इसे रंगीन महल भी कहते हैं और इसका नाम सार्थक है। इसकी दीवारों पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी जिनमें युढ़ के हथय शिकार, खेल, हाथियों के युढ़, जुलूस आदि चित्रित थे। कुछ अब भी शेष रह गये हैं। परियों के चित्र भी बनाये गये थे। और तो और हिन्दू देवी-देवताओं की अनुकृतियां भी अंकित थीं। वास्तव में यह अकबर का चित्र-मन्दिर सा लगता है।

पचमहल इसके उत्तर पूर्व में स्थित है। खम्भों द्वारा निर्मित यह पांच मंजिल की खुली इमारत सभाओं और उत्सवों के काम आती होगी। इसमें विविध प्रकार के खम्भों का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। इसके सामने ही मुल्ताना का महल है। महल क्या है एक छोटा-सा वर्गाकार कक्ष है जो संग्रहालय या पुस्तकालय की तरह काम आता होगा जैसाकि दीवारों में चारों ओर बने ताकोंदार आलयों से प्रकट होता है। यह कक्ष भी विविध डिजाइनों में अलंकृत किया गया है। बरामदों पर ढलवा छत दो गयी है जो किसी भोजपड़ी पर बनी खपरेल का स्मरण कराती है। इसके सभीप ही चार चमन्द तालाब हैं जिसके मध्य में एक चबूतरा है। इसे पुलों द्वारा चारों दिशाओं से जोड़ा गया है। खांबावाह इसके ठीक ऊपर स्थित है। नीचे का भाग रहने के काम आता रहा होगा। किन्तु इसके ऊपर एक और अलंकृत कक्ष है। इसमें भी जैसे चित्रित पाण्डुलिपियों में हथय बनाए जाते थे वैसे हथय चित्रित थे। अब बहुत कुछ मिट गए हैं। महल की प्रणस्ता में लिखे गये फारसी के कुछ पद अभी शेष हैं। यहां भी ताकोंदार आलय है और अनुमान होता है कि यह कक्ष भी अनुवा वस्तुओं को संग्रह करने या पुस्तकालय की तरह काम में लिया जाता रहा होगा। इसके बाहर भी वैसा ही ढलवा छतदार बरामदा है। सब तरफ मूल-रूप से बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी जो अब तुष्टप्राय हो गई है।

इसी प्रांगण में तथाकथित दीवाने-खास स्थित है। लाल पत्थर की यह वर्गाकार इमारत बड़े सुन्दर ढंग से बनाई गई है। बाहर प्रत्येक मुखपट के मध्य में तोड़ों और उदम्बर द्वारा एक ढार बनाया गया है जिसके दोनों ओर जालियां हैं। इनके ऊपर चारों ओर सुन्दर आकृति के तोड़ों पर जालियोंदार गौख दी गयी है। बाहर से यों यह दूसरी मंजिल सी प्रतीत होती है। इसमें प्रत्येक भूजा में तीन दर हैं। इसके ऊपर का छज्जा विशेष रूप से भक्ता हुआ और कोणात्मक है। सबसे ऊपर चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां हैं (चित्र-३०)। बीच के चबूतरे पर भी अग्रर एक गुम्बद होता तो वह सुन्दर लगता।

बाहर से दुम्जिली लगने वाली इस इमारत के अन्दर केवल एक बड़ा हाल है जो इमारत की छत तक काफी ऊचा है। इसके ठीक बीचों-बीच में एक खम्भा है जो आधार पर वर्गाकार है किर अठपहलू है और शिरस तक पहुँचते-पहुँचते १६ पहलू हो गया है। यहां से इसमें से ३६ गुजराती गेली के तोड़े निकलते हैं और ऊपर चढ़कर एक गोलाकार मंच को संभाल लेते हैं (चित्र-३१)। यह मंच हाल की लगभग आधी ऊचाई पर बनाया गया है। इसको चारों कोनों से चार संकरे पुलों द्वारा जोड़ दिया गया है। एक गोल यहां अन्दर भी चारों ओर इससे सम्बद्ध बनाई गयी है। मंच चारों पुल और गौख सभी में जालियोंदार रोक लगी हैं। दो तरफ दो सीढ़ियां हैं जिनसे इस मंजिल में आया जा सकता है।

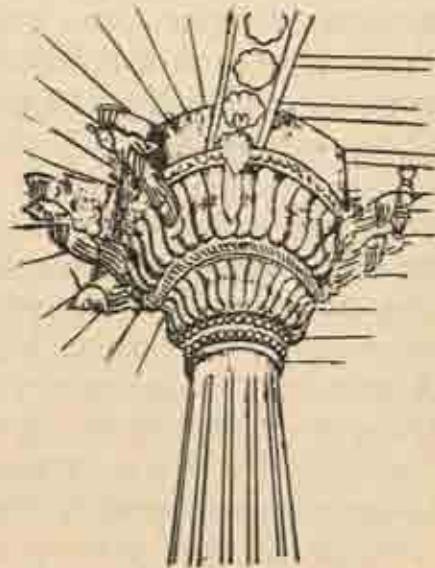
हाल के मध्य में एक खम्भा और उसके ऊपर गोल मंच-पे तत्त्व संसार में और कहीं किसी मुस्लिम इमारत में नहीं मिलते हैं। यह अनोखी रचना है। अकबर ने इसे क्यों बनवाया? किवदन्ती के अनुसार यह अकबर का दीवाने-खास है; अकबर बीच में बैठ जाता था और चारों ओर उसके मंत्री बैठ जाते थे। एक भत यह भी है कि यह अकबर का बनवाया हुआ इवादतखाना है। किन्तु ये दोनों ही बातें निरी गप्प हैं। इस छोटे से मंच पर इवादत-खाना होमा असम्भव है। अबुलफज्ल बदायूँनी और निजामुद्दीन-तीनों तत्कालीन इतिहासकारों ने इवादतखाने का विस्तृत वर्णन किया है। वह चार

बड़े शारों में बढ़ा हुआ था जहाँ सैकड़ों व्यक्तियों के बैठने को व्यवस्था थी। इन संकरे पुलों पर मुश्किल से २० व्यक्ति बैठ सकते हैं। दीवाने खास की बात भी काल्पनिक है। अकबर के अंगरक्षक और दस-वीस निजी सेवक रत्निवास के अतिरिक्त सर्दियाँ उसके साथ रहते थे और इस नन्हें से मंच पर वे सब नहीं आ सकते थे। यह भी समझ में नहीं आता कि इन संकरे पुलों और गोखों में मन्त्री कैसे बैठते होंगे। यह विछ जाने के बाद तो जगह और भी कम रह जाती होगी। अकबर को धूमने वाली कुर्सी की तरह चारों और धूमना पड़ता होगा। दीवाने खास नहीं हुआ-बच्चों का लेल हो गया।

वास्तव में इसे बनवाने का व्यय इसे किसी काम में लाना (Functional) नहीं था। यह प्रतीकात्मक कृति है। अकबर ने बहुत से युग-प्रवर्तक प्रयोग फतेहपुर सीकरी में किये। १५७६ में उसने मजहर की घोषणा की जिसके अन्तर्गत सारे विवादास्पद धार्मिक विषयों पर सम्मान का निर्णय अनितम माना जाने लगा। यहाँ उसने इबादतखाने का सूत्रपात किया और मिन्न-मिन्न घरों के पण्डितों को धार्मिक विचार-विमर्श के लिये ग्रामित किया। उसने दीन-इलाही नामक नयी धार्मिक व्यवस्था चलाई। अकबर राजनीतिक कारणों से ही उदार नहीं था, स्वभाव से भी बड़ा जिज्ञासु और धार्मिक-सहित्युता के सिद्धान्त का समर्थक था। उसने जैन साधुओं को फतेहपुर सीकरी बुलाया और उनका बड़ा सम्मान किया। इनके सम्पर्क का सम्मान के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ प्रमाणों के अनुसार उनसे उसने सूर्यसहस्रनाम का जाप सीखा। उसका प्रिय मिन्न बीरबल सूर्य का उपासक था। उससे भी उसे सूर्यायासना की ग्रेरणा मिली। कहते हैं सम्मान प्राप्त: उठकर सूर्य को नमस्कार करता था। आगरे के किले और फतेहपुर सीकरी में स्वावगाह में बने उसके झरोंखे पूर्व की ओर खुलते हैं जिससे उगते हुए सूर्य के दर्शन हो सके। पंचमहल का मुख भी पूर्व की ओर है और बहुत सम्भव है कि यह भी सूर्य सिद्धान्त की किसी क्रिया से सम्बन्धित हो। समीप ही बने अकबर के दीवानेश्वर का मुख भी पूर्व की ओर है। उससे पहले के और बाद के सभी मुसलमान

शासक जहाँ मक्का को अपना साथी बनाते थे और पश्चिम की ओर मुँह करके दीवाने श्वास में बैठते थे, अकबर सूर्य को साक्षी करके राज्य संचालन करता था।

भारतीय विचारधारा के अनुसार सूर्य सृष्टि का केवल माध्यम ही नहीं है, उसी के द्वारा पुरुष नित्यप्रति सृष्टि में विचरण करता है। सृष्टि आकाश और पृथ्वी का 'विशकम्मन' है और यह अक्ष ही उसे स्थिर रखता है। इस अक्ष पर प्रतिदिन सात घोड़ों वाला सूर्य आकर ठहरता है। हमारे यहाँ बड़े प्राचीन काल से इसी प्रतीक के अनुसार एक खम्भे के प्रासाद बनाये जाते थे। यह खम्भा सृष्टि के अक्ष का सूचक था। बुद्ध साहित्य में 'एक थम्बक-प्रासाद' का उल्लेख मिलता है। विजय संैन के देव-पारा के अभिलेख में प्रद्युम्न के एक मन्दिर के सन्दर्भ में ऐसे ही मेह का उल्लेख है— थालम्ब स्तम्भम् एकम् त्रिभुवन भवनस्य। ऐसा लगता है कि अकबर ने इसी प्रतीक को इस इमारत में सांकार किया है। चारों दिशाओं में छाये हुए चार पुल उसकी चक्रवर्ती महत्वाकांक्षा के सूचक हैं। निश्चय ही गुजरात में ऐसे एक-एक खम्भों का प्रयोग भवन-निर्माण में होता था अर्थात् किसी प्रासाद का सम्पूर्ण बोक मध्य में स्थित एक हड्ड स्तम्भ पर आधारित किया जाता था (चित्रांकन-४)। गुजरात में बड़े-



४. गुजरात में प्रयुक्त लकड़ी का केन्द्रीय खम्भा

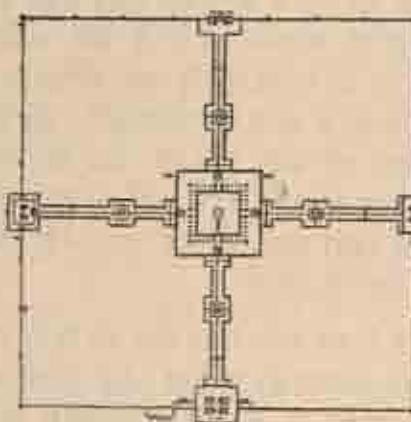
बड़े शहरों में चिडियों को दाना-पानी देने के लिये सड़कों पर भी गोल मंचदार ऐसे खम्भे बनाये जाते थे जिन्हें 'परवाई' कहते थे। इनकी रचना ज्यों की तर्फ़ ऐसी ही होती थी। वे कारीगर इस रचना से भलीभांति परिचित थे और इस प्रतीक को साकार रूप देने में कोई कठिनाई नहीं थी। यह इमारत इस प्रकार एक प्रतीकात्मक कृति है और किसी उपयोगिता के साथ इसे नहीं जोड़ा जा सकता है। यह अकबर की उस उदार नीति का सूचक है जिसके प्रन्तर्गत वह भारत पर भारतीय मान्यताओं और भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करना चाहता है।

जहांगीरकालीन इमारतें

१६०५ में सलीम जहांगीर के नाम से मुगल साम्राज्य को गही पर बढ़ा। १६११ में मिर्ज़ा ग्यास बेग की मुन्दर तुत्री मेहरनिसा से उसका विवाह हुआ। गही स्त्री बाद में नूरजहां के नाम से विश्वात हुई। धीरे-धीरे जहांगीर को उसने अपने नियन्त्रण में कर लिया और पदों के पीछे बैठकर राज्य चलाने लगी। जहांगीर को स्वयं शराब, बागबानी और चित्रकारी में बड़ी रुचि थी। इमारतें बनवाने का शौक उसे उतना नहीं था। उसके पिता ने अपने लिये जो मकबरा बनवाना प्रारंभ किया था वह उसने पूरा कराया और कुछ बाग लगाये। नूरजहां ने अपने माता-पिता के लिये भी आगरे में एक बड़ा मुन्दर मकबरा बनवाया। ये दोनों मकबरे इस काल के ही नहीं, मुगल वास्तुकला की भी श्रेष्ठ कृतियां हैं।

आगरे के समीप ही सिकन्दरा नामक स्थान पर अकबर ने १६०५ में अपने लिये मकबरा बनवाना प्रारंभ किया। उसकी केवल चौकी ही बन पाई थी कि अकबर की मृत्यु हो गयी। जहांगीर ने उसे १६१२ में पूरा कराया। चार बाग पढ़ति पर ही इसका विनास हुआ अर्थात् सम्पूर्ण बाग को चार समान भागों में बांट दिया गया। ठीक केन्द्र में मकबरा बनाया गया। चारों भुजाओं के मध्य में विशाल डार बनाये गये। दक्षिण की ओर का द्वार मुख्य द्वार है, येष तीनों आलंकारिक है। मुख्य मकबरे से इन्हें पत्थर की चौड़ी-चौड़ी बीघिकाओं

द्वारा जोड़ दिया गया। इन पर नालियों, तालाबों और झरनों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार इमारत को एक अत्यन्त सुन्दर स्थिति में प्रस्तुत किया गया है (चित्रांकन-५)।



५. अकबर के मकबरे की चोजना

मुख्य द्वार स्वयं में एक भव्य इमारत है (चित्र-७२)। अन्दर एक विशाल हाल है। प्रत्येक मुख्य पट्ट के मध्य में एक महराब है जिसके दोनों ओर छोटे महराबदार आलय हैं। प्रत्येक महराब पर संगमरमर में सुरुचिपूर्ण ढंग से काटे हुए फारसी के भिलेख हैं। आलयों में उत्कृति (Incised) चित्रकारी की गयी है। बाहर की ओर सब तरफ विभिन्न रंग के पत्थरों से बड़ा सुन्दर जड़ाऊ काम (Mosaic) किया गया है (चित्र-७३)। रेखाकृत और अरबीसम डिजाइनों का प्रयोग हुआ है। वैसे इमारत जाल पत्थर की है। ऊपर शीर्ष पर जाल पत्थर की ही छत्रियां बनाई गई हैं। छत्रियों के साथ इमारत के चारों कोनों पर संगमरमर की चार सुन्दर मीनारें बनाई गई हैं। ये गज़राकार हैं। पहली मंजिल में कुतुबमीनार जैसी धारियां हैं। इसके ऊपर गोख है किन्तु तोड़ों की अपेक्षा उसको निर्बाचारम पर आधारित किया गया है। दूसरी प्रौंर तीसरी मंजिल की गोखों में तोड़ों का प्रयोग किया गया है। सबसे ऊपर एक अत्यन्त सुन्दर छत्री है जो बड़े प्रभावशाली ढंग से इस मीनार को मुकुट पहनाती है। चारों मीनारों मिलकर इस द्वार की शोभा में चार चाँद लगा देती हैं। उत्तरी भारत में इतने अधिक विकसित रूप में मीनारों का यह

प्रयोग पहली बार किया गया और निश्चय ही यह इस इमारत का एक विशिष्ट तत्व है। इष्टव्य यह है कि मोनार जैसे वास्तु तत्वों का सुन्दर प्रयोग तो इसमें हुआ ही है, अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी का अलंकरण भी इसमें किया गया है। पत्थर की कटाई, रंगीन चित्रकारी, चूने की कला, विभिन्न रंग के पत्थरों का जड़ाक काम आदि सभी प्रचलित विधियों का उपयोग हुआ है। आश्चर्य यह है कि यह सब केवल एक द्वार में किया गया है जो इमारत का एक गौण भाग है।

उत्तरी द्वार तोड़-फोड़ दिया गया है और अब खंडहर पड़ा है। पूर्वी और पश्चिमी द्वार भी सात-सात मंजिल की विशाल इमारतें हैं (चित्र-७४)। कमरों, दालानों और सीढ़ियों का क्रम से संयोजन हुआ है। विविध विधियों द्वारा अलंकरण किया गया है। पश्चिमी द्वार के पीछे के आलयों में भी उत्कृष्ट चित्रकारी हुई है। इसमें सफेद और हिरमिच के बल दो रंगों का प्रयोग हुआ है। यह लोक-शैली की प्रचलित पद्धति थी जिसका उदारता-पूर्वक इस मकबरे में उपयोग किया गया है। यहाँ ऐसे तीन शिलापट्ट (Dados) भी मिले हैं जिन पर हाथियों में फूलदार जड़ाक काम (Inlay) किया गया है। १६०५ और १६१२ के मध्य बने इस मकबरे में इन शिलापट्टों के मिलने से यह सिद्ध हो गया है कि इस कला का सूत्रपात किसी फ्रांसीसी या इटली निवासी ने शाहजहां के राज्यकाल में नहीं किया वरन् यह देश में ही जन्मी और विकसित हुई कला है।

मुख्य मकबरे का डिजाइन बड़ा अनोखा और रोचक है (चित्र-७५)। ३० फीट ऊँची वर्गाकार चौकी है जो स्वयं में एक बृहत् मंजिल सी लगती है। इसमें विशाल, भारी और दड़ महराबोंदार चारों ओर खुले हुए कक्ष हैं। प्रत्येक भुजा के मध्य में एक अलंकृत ईवान है जिसके शीर्ष पर निर्यूहों के मध्य में संगमरमर की एक अत्यन्त कमनीय आठ खम्भों की आयताकार छत्री है। दक्षिण की ओर के ईवान के अन्दर अन्तराल मण्डप (Vestibule) है जिसकी दीवारों और छत पर रंगीन चित्रकारी (चित्र-७६) और रंगीन चूने का कलात्मक काम किया

गया है। इस अलंकरण में मुनहरी रंग की बहुतायत है। सम्पूर्ण कक्ष प्रभावशाली ढंग से दमदमाता है और यह विश्वास नहीं होता कि यह मृत्यु के किसी स्मारक का पूर्व कक्ष है।

इसमें से एक ढलवां आलिन्द मुख्य कक्ष तक जाता है। १७५ फीट लम्बा यह आलिन्द मिथ के पिरामिडों में बने गुप्त मार्गों जैसा है और गुफा-सा लगता है। ४० फीट वर्ग और ६० फीट ऊँचा मुख्य कक्ष इस समय सावा है किन्तु मूलरूप से वह भी अन्तराल मण्डप जैसा ही अलंकृत था। इसके ठीक मध्य में अकबर की एकांकी कब्र है। इसके रोशन-दान तीसरी मन्जिल पर खुलते हैं।

इस चौकी के चारों कोनों पर सम्बद्ध अद्वालिकाएँ हैं जिनके ऊपर विशाल छत्रियाँ हैं। मुख्य इमारत इस चौकी के बीचों-बीच में स्थित है। इसकी तीन मन्जिलें लाल पत्थर की हैं। सबसे ऊपर की मन्जिल श्वेत संगमरमर की है। प्रत्येक भुजा में खम्भोंदार महराबों की शृंखला है। किन्तु इस इमारत का विशिष्ट तत्व दुमन्जिली वर्गाकार छत्रियाँ हैं जो इन तीनों मन्जिलों के साथ बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्बद्ध की गई हैं। कुछ छत्रियाँ गुम्बद-दार हैं कुछ की छत ढलवां चौकोर हैं। कुछ पर रंगीन टाइलों का चमकदार अलंकरण हुआ है। सब पर पद्मकोश और कलश लगे हैं। खम्भों पर आधारित ये छत्रियाँ बड़े मनोरम ढंग से इमारत को चारों ओर से घेरे हुए हैं (चित्र-७७)।

चौबी मंजिल में एक गुप्त कक्ष है जिसके मध्य में एक गुप्त कब्र और बनी है। सबसे ऊपर की मन्जिल की रचना संगमरमर की है। इसके मध्य में एक खुला आंगन है जिसके बीच में एक ढलवां चबूतरा है। इस पर संगमरमर की एक बड़ी सुन्दर कब्र है और संगमरमर का ही एक दीपाखार है। चारों ओर महराबदार दालान है जिन्हें वर्गाकार उपभागों में बांट दिया गया है। सलीम चिश्ती के मकबरे की तरह इनकी छतें भी कोनों पर त्रिकोणात्मक शिलाएँ रखकर समतल ढंग से बनाई गई हैं। बाहर की ओर उसी प्रकार जालियों का प्रयोग हुआ है। विविध प्रकार की इन सभी जालियों के डिजाइन रखाकृत हैं। ये जालियाँ इस मंजिल की ही

जोभा नहीं बढ़ाती, नीचे की छवियों के साथ भी बड़ी सुन्दर लगती है। चारों कोनों पर चार तन्त्रियों छवियां हैं।

आंगन की ओर चित्रबल्लरी पर फारसी के ३६ दोषदे संगमरमर में खुदे हुए हैं। इनमें २३ में अकबर की प्रणाली की गई है। ये दार्शनिक विचारों को लिपिबद्ध करते हैं। इस्लाम के निराणीय के दिन या हजारत मुहम्मद का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत हिन्दुओं के नित्यात्मा सिद्धान्त का प्रसंग है। ये अभिलेख अकबर की धार्मिक भावना के सूचक हैं और यह सिद्ध करते हैं कि अपने मकबरे के प्रत्येक तत्त्व को अकबर ने स्वयं निर्णीत किया था और जहांगीर ने उन तत्त्वों में अधिक परिवर्तन नहीं किया।

अकबर के मकबरे में एक बड़ी कमी रह गई है। इसके ऊपर गुम्बद नहीं है जिससे इसके ऊपर को पूरणता प्राप्त होती। इमारत का मुकुट जहां होता है वहां स्थान खाली है। वास्तव में चबूतरे के ऊपर एक गुम्बद बनाने की योजना थी और प्रत्यक्ष-दर्शी विलियम फिल्ड नामक विदेशी यात्री ने इस विषय का उल्लेख किया है। इस चबूतरे के नीचे अत्यन्त चौड़ी प्रणाली दीवारे हैं और उनसे भी यही सिद्ध होता है कि इसके ऊपर भारी बोझ आने की योजना थी जिसके लिये हड़ आधार बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। किसी कारणावश यह गुम्बद नहीं बनाया जा सका। किन्तु गुम्बद बन जाने पर यह कितना अधिक सुन्दर लगता, इसका अनुभान काल्पनिक चित्र संख्या-७८ को देखकर लगाया जा सकता है।

इस मकबरे के अनोखे डिजाइन की प्रेरणा कहा में मिली? यह किसी बुद्ध-विहार की अनुकूलता नहीं है न यह महाबल्लीपुरम् के रथ से प्रेरित है जैसा फरयुसन का विचार था। वास्तव में यह अकबर को ही पैली के विभिन्न तत्त्वों के संयोजन से तैयार की गई योजना है। इसमें खम्भोदार महराबों की शृंखला के साथ खम्भोदार छवियों का कमबद्ध प्रयोग हुआ है। फलेहपुर सीकरी की इमारतों और मुहम्मद गीस के मकबरे में ये तत्त्व विकसित रूप में प्रयुक्त हो चुके थे। दो कमियों के कारण यह डिजा-

इन निखर कर सामने नहीं आ सका है। एक तो इस विशाल इमारत के शीर्ष पर गुम्बद नहीं बन सका। दूसरे इसकी चौकी आवश्यकता से अधिक ऊची बन गई, इतनी ऊची कि यह अपने आप में एक मंजिल-सी लगती है जिससे समानुपात विगड़ गये। मुख्य मकबरे से इसका तालमेल नहीं रहा। फिर भी यह मकबरा मुगल स्थापत्य की एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है। इसके सौन्दर्य का सबसे प्रमुख तत्त्व यही है कि यह अकबर के व्यक्तित्व जैसा ही हड़ और प्रणाली, गम्भीर और विचारवान् सा लगता है। शान्तिपूरण सड़ा हुआ यह दार्शनिक-सा प्रतीत होता है। न तो इसमें ऐताल्दुदीला के मकबरे जैसी तड़क भड़क प्रदर्शित करने वाली आकृदा है न ताजमहल जैसा स्त्रीत्व। अकबर के स्थापति ने उसके मकबरे को सही अर्थों में उसका व्यक्तित्व का स्मारक बनाया है।

ऐताल्दुदीले के मकबरे का निर्माण १६२२ के पश्चात् नूरजहां ने कराया। यह यमुना के बायें किनारे पर स्थित है। यह नूरजहां के भाता-पिता अस्मत बेगम और मिर्जा म्यासबेग का मकबरा है। परम्परागत चार बाग योजना के यह ठोक बीचों-बीच में बनाया गया है। बहते हुए पानी की व्यवस्था के लिये तालाब, फुहारे, भरने और चौड़ी-चौड़ी नालियां बनाई गई हैं। इस इमारत में ये नालियां बहुत छिक्की हैं और मुख्य मकबरे के चारों ओर ही नहीं, बाग के प्रत्येक उपभाग के साथ भी सम्बद्ध की गई हैं। मुख्य द्वार पूर्व की ओर है। उत्तर और दक्षिण की ओर आलंकारिक द्वार हैं। पश्चिम की ओर अर्धांत यमुना के ऊपर एक विशाल बारहदरी है। ये सभी लाल पत्थर की कृतियां हैं जिनमें बड़ाऊ काम के लिये एक संगमरमर का व्यापक प्रयोग हुआ है।

मुख्य मकबरा एवेत संगमरमर का बना है। यह बगाकार है। चारों कोनों पर तिमजिली अट्टालिकाएँ सम्बद्ध की गई हैं (चित्र-७९)। ये मूलरूप से अठपहलू हैं किन्तु छत पर जाकर गोल हो गयी हैं। इनके ऊपर गोल छवियां हैं। मकबरे की प्रत्येक भुजा में तीन महराब हैं। केवल मध्य के महराब में प्रवेश द्वार है, शेष दो जालियों से बन्द

कर दिये गये हैं। महरावों पर अत्यन्त बारीक कटाई का काम किया गया है जो हाथी-दांत की कला सा प्रतीत होता है। इनके ऊपर चारों ओर तीँड़ों पर आधारित छज्जा है। अन्दर इमारत के मध्य में एक वर्गाकार हाल है जिसमें अस्मत वेगम और मिर्जा ग्यास की कब्रें हैं। अस्मत वेगम की कब्र हाल के ठीक बीचों-बीच में है, मिर्जा ग्यास की उसके दायीं ओर है। चारों कोर्नों पर चार छोटे वर्गाकार कमरे और भुजाओं पर आयताकार कमरे हैं। इन सब में बड़ी सुन्दर चित्रकारी और चूने का अलंकरण किया गया है। कुछ डिजाइन और हाशिये पाइलिंगियों से लिये गये हैं। स्मरणीय है कि जहांगीर के युग में मुगल चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। लघु चित्रों (Minatures) का स्पष्ट प्रभाव हमें इस इमारत के अलंकरण में मिलता है। दूसरी मंजिल में एक वर्गाकार मण्डप है जिसके ऊपर गुम्बद नहीं है बल्कि ढलवां चौकोर छत है जिस पर पचकोश और कलश है। इसमें जालियों का प्रयोग किया गया है। अन्दर अस्मत वेगम और मिर्जा ग्यास की नकली कर्त्रें हैं।

इस मकबरे में बाहर की तरफ की दीवारों और अटालिकाओं पर दोनों मंजिलों में बड़ा सुन्दर जड़ाऊ काम किया गया है। पौली करित फूल पत्तियों के और रेखाकृत डिजाइन अधिक है। इरानी फूलों और वृक्षों और शराब पीसे के जाम और सामार का भी खुलकर प्रयोग हुआ है। इच-इच पर श्वेत संगमरमर में जड़ाऊ काम का यह अलंकरण बड़ा मुश्विरपूर्ण है (चित्र-८०)। लगता है स्वप्न से अधिक इस इमारत में अलंकरण के कलाकार का शोगदान है।

मुगल वास्तुकला के विकास में इस मकबरे का विशेष महत्व है। अबतक इमारतें लाल पत्थर की बनाई जाती थीं और उनमें पत्थर की कटाई का अलंकरण होता था। कुछ इमारतों में यद्यपि संगमरमर का प्रयोग हुआ था जैसे अकबर के मकबरे की सबसे ऊपर की मंजिल संगमरमर की बनी थी। किन्तु सम्पूर्ण इमारत इस मकबरे में संगमरमर की बनाई गई। इसके अनुसार अलंकरण के मानदण्ड भी बदल गये। संगमरमर में कटाई उतनी सुन्दर

नहीं लगती जितनी रंगीन पत्थरों की जड़ाई लगती है। परिणामस्वरूप यहां जड़ाऊ कला के द्वारा अलंकरण किया गया है। यह सत्य है कि यह बहुत घना हो गया है और चिचिप्पि सी लगती है। श्वेत संगमरमर में अलंकरण के साथ खाली स्थानों का होना बड़ा आवश्यक है जिससे अलंकृत भाग को महत्व प्राप्त हो। यह बात मुगल कलाकार इस मकबरे में सीखा और आगे चलकर उसने इस अनुभव का लाभ उठाया। ताजमहल और मीरी मस्जिद में तो अलंकरण के बल नाम मात्र के लिये ही हुआ है। इससे वास्तु सम्बन्धी तत्वों को प्रधानता मिली और अलंकरण का मध्यकाल में जो बोल-बाला होने लगा था वह कम हो गया। इमारत की योजना से सीन्दर्य लाने का सिद्धान्त अप्रगमी हो गया।

जहांगीर के राज्यकाल में और भी बहुत-सी इमारतें बनाई गईं। जहांगीर ने अपनी भों का मकबरा भी सिकन्दरे में ही बनवाया। कांच महल नामक एक सुन्दर महल का भी निर्माण हुआ। वह अपनी आत्मकथा में एक और महल का उल्लेख करता है जो उसने किले में बनवाया था। यह अब वेष्ट नहीं है। इन दो मकबरों के अतिरिक्त जहांगीर के कुछ बाग भी विश्वात हैं। काश्मीर में शिंगर में उसने १६१६ में जालीमार बाग बनवाया जो संसार के सुन्दरतम बागों में गिना जाता है। यह विभिन्न तत्वों में बनाया गया है। फुहारोंदार एक बड़ी नहर इसके मध्य में बहती है। पत्थर की बीधिकाओं और सीढ़ियों के बीच में बहती हुई और भरने के लिये में गिरती हुई यह नहर बड़ा सुन्दर बातावरण उपस्थित करती है। स्थान-स्थान पर तालाबों और मण्डपों की व्यवस्था है। डल भोज पर आसक खां ने ऐसा ही एक सुन्दर बाग तिश्यात-बाग का निर्माण कराया। मध्यकाल के बागों में ये दोनों सर्वोत्कृष्ट उद्यान हैं जिनमें केवल पेड़ पीछे ही नहीं हैं, मनोरम वास्तु विवानों के साथ बहते हुए पानी की सुन्दर व्यवस्था भी की गई है। जहांगीर ने लाहौर में रावी के किनारे दिलकुशा बाग बनवाया। वह आगरे की गर्मी सहन नहीं कर पाता था और लाहौर या काश्मीर में रहता था। दिलकुशा बाग पर उसने विशेष ध्यान दिया क्योंकि

यहीं उसने अपना मकबरा बनाने का निश्चय किया था। बाग को चार बड़े भागों में और प्रत्येक भाग को किर चार उप-भागों में नहरों द्वारा बांटा गया है। केन्द्र में मकबरे की योजना है। १६२७ में उसकी मृत्यु के पश्चात् तूरजहाँ ने यह मकबरा बनवाया। यह एक भूमिला है। कीनों पर पांच मजिल की मीनारें सम्बद्ध हैं। डिजाइनों में फूल-पत्तियों की बहुतायत है। जहाँगीर को प्रकृति से बड़ा प्रेम था और वह चित्रकला में और अपनी इमारतों में ये प्राकृतिक रूपक ही प्रदर्शित करना चाहता था।

शाहजहाँ का स्वरूपयुग

१६२८ में शाहजहाँ गढ़ी पर बैठा। उसकी इमारतें बनवाने में बड़ी रुचि भी और अपने ३० प्रथम के शासन काल में (१६२८-१६४८) उसने बड़े-बड़े महल, मस्जिदें और मकबरे बनवाये। इनमें मोती मस्जिद और ताजमहल जैसी विश्वविरूप्यात् इमारतें हैं। ये सभी इमारतें या तो संगमरमर की बनवाई गयी या इन पर इवेत चूने का पत्तास्टर किया गया जिससे यह संगमरमर की सी लगे। ऐसा ही उपयुक्त अलंकरण हुआ। शाहजहाँ वास्तु में सौन्दर्य तत्त्व को बहुत अधिक महत्व देता था और उसके काल में मुगल वास्तुकला में सौन्दर्य सम्बन्धी कान्तिकारी परिवर्तन हुए। सादे महराव की अपेक्षा दातेदार और विशेषकर ६ दांतों का महराव बनने लगा। यह अलकृत खम्भों पर आधारित किया जाता था। तोड़े और छज्जे प्रयुक्त होते रहे। ऊर्ध्वे रचना में अनियों का उपयोग बड़ा गया। गुम्बद अब अधिकांशतः ऊचा उठा हुआ, बलवाकार और दुहोरा बनाया जाने लगा। उस पर बड़े विशाल पथकोश और कलश सुशोभित होने लगे। इमारत के उठान और विभिन्न भागों में तालमेल बनाए रखने के सिद्धान्तों को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा। अलंकरण की परिभाषा में अब अधिकांशतः रंगीन कीमती पत्तरों का जड़ाक काम रह गया जिसका प्रयोग भी बहुत कम, केवल चुनीदा-चुनीदा स्थानों पर होता था। यो शाहजहाँ के काल में मुगल वास्तुकला अपनी परिपूर्व अवस्था पर पहुंची और कुछ अत्यन्त सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ। यह निस्सदेह

वास्तु का स्वरूपयुग था और विकास की वह चरम स्थिति थी जिसके पश्चात् केवल पतन की ही सम्भावना रह जाती है।

इस काल की इमारतों को अध्ययन की दृष्टि से तीन सुलभ भागों में बांटा जा सकता है:—

(१) प्रशासकीय और आवास के महल।

(२) मस्जिदें, और

(३) ताजमहल जो अपने वर्ग की संसार में अकेली इमारत है।

आगरे के किले में शाहजहाँ ने अकबर की बनवाई लाल पत्थर की बहुत-सी इमारतों को तुड़वा दिया और उनके स्थान पर इवेत संगमरमर के महल बनवाये। खासमहल (चित्र-८१) आवास के लिए बना। यह गंगारो बाग नामक एक बाग के सामने एक ऊची चौकी पर स्थित है। सामने एक बड़े हौज में फुहारों की व्यवस्था है। अन्दर के कक्ष में संगमरमर पर सुनहरी चित्रकारी की गई। बाहर दालान में कटाई का अलंकरण भी है। इस प्रांगण के उत्तरी पूर्वी कोने पर शीश-महल स्थित है। यह नहाने का कमरा नहीं है जैसी भ्राति प्रवत्तित है। यह मर्मो के मौसम में रहने के काम आता था। इसमें पानी के भरने, फुहारे और एक नहर की व्यवस्था है। अन्दर की दीवारों पर शीशों का जड़ाक काम किया गया है जो किसी भी कृतिम प्रकाश में दमदामाता है। इस शीशों की कला की प्रेरणा (वैयज्ञानिक) से आयी जहाँ इसका भीतरी अलंकरणों में व्यापक प्रयोग होता था। तत्कालीन इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने इस सम्बन्ध में हलब (अर्थात् अलीपो) नगर का उल्लेख भी किया है। भारत में मध्यकालीन शीश-महलों में यह शीश-महल सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

मुसम्मन बुज़ भी खासमहल की तरह ठीक नदी के सामने प्राकार के ऊपर स्थित है। यह भी सम्पूर्ण इवेत संगमरमर की इमारत है। ग्रांगन और दालानों में पानी की व्यवस्था है। मुख्य दालान में ती फशों के मध्य में पानी का एक कलात्मक विघ्नान किया गया है जिसमें फुहारा लगा है। मुख्य इमारत अठपहल है और एक अद्वृतिका पर बने होने के कारण ही इसे मुसम्मन बुज़ कहते हैं। इसमें रंगीन

चित्रकारी भी को गयी है। किन्तु विशेष अलकरण उत्कीर्ण शिलापट्टों का है जिनके हाशिये बड़े हुए हैं। यह महल आवास के लिये बना होने पर भी बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत है। यहीं शाहजहां ने अपने बन्दीजीवन के थाठ वर्ष (१६५८-६६) काटे और फिर अन्त में यहीं उसकी मृत्यु हुई।

शीश-महल के ठीक ऊपर दीवाने-खास स्थित है। यह प्रशासकीय इमारत है जहां विशेषरूप से दरबार का आयोजन होता था और केवल विशिष्ट व्यक्तियों, मंत्रियों और मनसवदारों को ही आमंत्रित किया जाता था। यहां महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श होता था। यहीं औरंगजेब ने शिवाजी से पहली बार झेट की थी। इसमें अन्दर एक विशाल हॉल है जिसमें अत्यन्त कलात्मक शिलापट्ट लगे हैं। बाहर चौड़ा दालान है जिसमें तीन तरफ दुहरे खम्भों का प्रयोग किया गया है। इन पर ६ दाँतों वाले बड़े सुन्दर महराव बने हैं। इस इमारत का सम्पूर्ण सीन्दर्य इन दुहरे खम्भों और इन महरावों के कारण है (चित्र-८२)। इन इमारतों में अधिकांशतः समतल छतों का प्रयोग हुआ है।

जिस प्रांगण के दक्षिणी पूर्वी कोने पर दीवाने-खास स्थित है उसे मच्छी भवन कहते हैं। मूलरूप से यहां तालाबों और भरनों की व्यवस्था थी जो अब शेष नहीं है। इसके उत्तरी पूर्वी कोने पर अर्थात् दीवानेखास के सामने हम्मामेशाही स्थित है। इसके उत्तरी पश्चिमी कोने पर नगीना मस्जिद स्थित है। यह छोटी-सी मस्जिद बड़े सुन्दर ढंग से बनाई गई है (चित्र-८३)। सम्पूर्ण संगमरमर की इस मस्जिद के मुखपट में तीन महराव हैं। महरावों के ऊपर छज्जा है जो बीच में से मुड़ा हुआ है और ऐसे ही इनके ऊपर शीर्ष भी मुड़ गया है। यह बांगाल की वास्तुशैली का विशिष्ट तत्त्व है और मूलरूप से बांस और कुस की भोजियों की रचना-विधि से प्रेरित है। परिणामस्वरूप बीच का मुम्बद पाल्वे के गुम्बदों से कुछ ऊँचा उठ गया है। इससे मध्य भाग को कुछ विशेष उठान मिल गया है जो सम्पूर्ण रचना विन्यास में बड़ा सुन्दर लगता है। इस मस्जिद के गुम्बद भी बड़े विशाल हैं और उन पर उनके अनुकूल ही प्रभावशाली पथकोशों का प्रयोग

हुआ है। ऊर्ध्व रचना पर स्वपति ने निश्चय ही उस भाग से अधिक ध्यान दिया है जो नमाज पढ़ने के लिये काम में लाने को बनाया गया था। उपर्योगिता से अधिक सीन्दर्य का ध्यान रखा गया है।

दीवानेश्वाम तीन तरफ से खुला हुआ एक विशाल हॉल है (चित्र-८४)। जिसकी पूर्वी दीवार में एक ऊँचा सिहासनालय है जिसमें सभाट बैठते थे। इसमें भी दुहरे खम्भों और दातेदार विशाल महरावों का प्रयोग हुआ है जो शाहजहां की वास्तु-शंखी के विशिष्ट तत्त्व बन गए थे। ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा है। एक सीधी रेखा में देखने पर खम्भोंवार महरावों की यह कमबद्ध शृंखला बड़ी सुन्दर लगती है। इस इमारत की रचना लाल पत्थर से हुई है किन्तु ऊपर से ऐवेत लूने का ज्लास्टर कर दिया गया है और उस पर सुनहरी काम किया गया है। मूलरूप से यह सब संगमरमर जैसाही सुन्दर लगता होगा।

इससे कुछ आगे उत्तर की ओर मोती-मस्जिद स्थित है। यह मुगलों की मस्जिदों में ही नहीं संसार की सर्वोत्कृष्ट मस्जिदों में जिनी जाती है। बाहर से इसमें लाल पत्थर की रचना है किन्तु सम्पूर्ण-भीतरी भाग और ऊर्ध्व रचना संगमरमर की है। इसके मध्य में खुला हुआ आंगन है जिसके तीन ओर खम्भों और महरावदार दालान है जिसके ऊपर सुन्दर छज्जा है। मुख्यदार पूर्व की ओर है। दो ऊपर्यादार उत्तरी ओर दक्षिणी भुजा के मध्य में भी बनाये गये हैं जिनमें दोनों ओर सीढ़ियों का विधान है (चित्रांकन-६)। आराघना-भवन का विन्यास बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। मुखपट में चौड़े खम्भों पर सात, परम्परागत ६-दाँतोंदार महराव हैं (चित्र-८५)। खम्भों के द्वारा सम्पूर्ण हॉल को बगीकार उपभागों में बांट दिया गया है। मध्य के तीन भागों की छतें गोल हैं और उनके ऊपर गुम्बद बने हैं, शेष सभी की छतें समतल हैं। इसमें स्वपति ने विशेष ध्यान ऊर्ध्व रचना पर दिया है। प्रत्येक महराव के ऊपर एक कमनीय बगीकार छती है। तीनों गुम्बद दुहरे और बल्वाकार हैं और बड़े प्रभावशाली ढंग से प्राराघना भवन को अच्छादित करते हैं। चारों कोनों पर चार छत्रियों और बनाई

गई है और ऐसी ही आठ खन्नोंदार दो छत्रियां मस्तिशक की पूर्वी भुजा के कोनों पर स्थित हैं। उब मिलाकर यह विन्यास बड़ा सुन्दर लगता है। अर्णों में प्रत्यन्त आकर्षक तालमेल है और सम्पूर्ण रचना एकलूप्त है। स्मरणीय है कि इस मस्तिशक में कोई अलंकरण नहीं किया गया है, यथात् इसमें ताजमहल वा जड़ाक काम भी नहीं है। इसका सम्पूर्ण सीन्डर्व वास्तुतत्त्वों के कारण है। यह मस्तिशक पाण्चात्य विद्वानों की इस आन्ति को कि पूर्व में वास्तुशैलियों में अलंकरण की प्रधानता रहती है, दूर कर देती है। इस मस्तिशक का निर्माण १६४५ में प्रारम्भ हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि ताजमहल के कलाकारों का वहां काम समाप्त होते ही उन्हें वहां भेज दिया गया। वास्तु के विकास की इष्टि से यह ताजमहल से भी एक नदी आगे है। यह १६५४ में बनकर पूर्ण हुई। स्मरणीय है कि यह जामो-नस्तिशक नहीं है। इस बनवाने वा घेय उपर्योगिता कम था। वास्तु में शाहजहां एक अद्वितीय भक्तवरा बनवाने के पाण्चात् एक अद्वितीय मस्तिशक बनवाना चाहता था जो उसके राज्यकाल की सम्पलता और कलात्मक उपलब्धियों का ताजमहल की तरह से स्मारक हो। इस युग के सांस्कृतिक विकास की यह चरमावस्था थी।

शाहजहां ने दिल्ली में लाल किले का निर्माण कराया। यह आगरे के किले को तरह हड़ और अमेघ नहीं है, न ही शाहजहां के युग में ऐसे विशाल दुर्ग को बनाने की कोई आवश्यकता ही थी। सभ्राट के रहने की व्यवस्था करनी थी और उसके लिये इतनी सुरक्षा काफी थी। यमुना की ओर आवास के बड़े-बड़े महल बनाए गए। उनमें वहां हुए पानी को समुचित व्यवस्था की गई। एक बड़ी नहर इन महलों के ऊपर में होकर जाती है और इसमें सम्बद्ध स्थान-स्थान पर भरतों, फुहारों और लघु तालाबों का विधान है। इसे 'नहरे-बहिष्ठ' या स्वर्ण की नहर कहते हैं। यह नहर हम्माम, दीवान-ए-खास, खावगाह, मिजाज-ए-इनसाफ आदि महलों में होती हुई रंगमहल में आती है। आवास के में महल इस प्रकार बल बहुत से लगते हैं। दीवाने-खास में इसका सौन्दर्य ऐसा अनोखा है कि

शाहजहां ने वहां फारसी में यह उत्ति अंकित करा दी है-'आगर पृथ्वी पर कहीं स्वर्ण है तो वह यही है।' रंगमहल में भी उसकी छटा दर्शनीय है। विशेषण से इसके मध्य में स्थित कमल-सर का सौन्दर्य तो अवरणीय है। बीस फुट वर्ग के एक भाग में संगमरमर का जड़ाऊ एक विशाल कमल का फूल बनाया गया है जिसके मध्य में कमल की कली जैसाही एक फुहारा है (चित्र-८६)। पानी फुहारे से निकलकर पंखुड़ियों पर गिरता है और पंखुड़ियों से गिरकर नहर में मिल जाता है। पानी की गति से पंखुड़ियों उठती गिरती हुई प्रतीत होती हैं। यह अद्भुत कला है और भारतीय कारीगर की उभ ज्ञानता का दौतक है जिसके कारण वह एक युग में बोलती हुई अधराओं की मूर्तियां बना सकता है और दूसरे युग में अगर उसे मूर्तियां बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है तो वह सजीव फूलों और पत्तियों का निर्माण कर सकता है। संसार में और कहीं भी ऐसे कलात्मक विधान नहीं हैं।

इन महलों के समीप ही शोती-मस्तिशक स्थित है। यह कहना सही नहीं है कि इसे औरंगजेब ने बनवाया। यह शाहजहां के स्वर्णयुग की ओर उसी की शैली को कहति है। शाहजहां ने इसे बनवाना प्रारम्भ किया किन्तु १६५८ में औरंगजेब ने उसे कैद कर लिया और औरंगजेब के राज्यकाल में १६५६ में इसे पूर्ण कराया गया। यह मस्तिशक बहुत छोटी है किन्तु बड़ी सुन्दर है। बाहर लाल पत्थर की जहार-दीवारी है। अन्दर की सारी रचना श्वेत संगमरमर की है। इसमें दालान आदि कुछ नहीं है। आगर के पश्चिम में एक ऊची चौकी पर आराधना भवन है। इसमें तीन महराब हैं (चित्र-८७)। मध्य का महराब ऊचा और बड़ा है। इसके ऊपर का छज्जा और ऊपर सुड़े हुए हैं जैसे आगरे की नगीना मस्तिशक में हैं। किन्तु यहां यह तत्त्व और अधिक विकसित रूप में प्रयुक्त हुआ है। मुड़ी हुई गोल छत का ऐसा रूपक इस आगर में प्रवेश द्वार के अन्दर की ओर भी बनाया गया है। यह बड़ा जान्तिकारी प्रयोग था। आगे चलकर राज-पूत बास्तुशैली में यह तत्त्व प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने लगा और औरंगजेब १७ वीं शताब्दी के अन्त-

से मुड़े हुई नुकीले छज्जों शीर्ष और छतों इस शैली के विविध तत्त्व हो गये।

इस मस्जिद की ऊर्ध्व रचना का विन्यास अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है। तीन दुहेरे बल्काकार गुम्बद हैं जिनमें बीच का गुम्बद बड़ा और ऊँचा उठा हुआ है। इन पर बड़ी सुन्दर छारियां दी गयी हैं। इनके पश्चकोश और कलश भी बड़े प्रभावशाली हैं—गुम्बद इमारत को मुकुट पहनाते हैं और ये गुम्बद को सुशोभित करते हैं। इन गुम्बदों को छतियोंदार नियूहों से चारों ओर से धेर दिया गया है। कुल मिलाकर यह सुन्दर विधान है और उस युग के कलाकार के सौन्दर्य बोध का परिचायक है। सीमेन्ट की चादरों से बैरके बनाये जाने वाले युग में इस अद्भुत ऊर्ध्व रचना का महत्व लोग कठिनाई से समझ पाते हैं।

इन घरेलू मस्जिदों के अतिरिक्त शाहजहां के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदों का भी निर्माण हुआ जिनमें आगरे और दिल्ली की जामी-मस्जिदें प्रमुख हैं। आगरे की जामी-मस्जिद का निर्माण १६४८ के लगभग जहांनारा ने कराया। लाल पत्थर की यह मस्जिद परम्परागत योजना पर बनी है। दालानों और आराधना भवन के ऊपर छतियों का व्यापक प्रयोग हुआ है और यही इस मस्जिद की विशेषता है वरना इसके भारी गुम्बद अच्छे नहीं लगते हैं। वे कुछ ऐसे बैठे हुए हैं जैसे बेसन के लड्डू में भी अधिक हो जाने के कारण वह बैठ जाता है। इसके सामने का भाग १६५७ में अंग्रेजों ने तुड़वा दिया था जिससे इस पर तोपें रखकर किले के दिल्ली द्वार को छवस्त नहीं किया जा सके। अभी इसके पीछे की एक लघु मीनार गिर गई और दूसरी उतार दी गई। इमारतों की जो दुर्दण्डा इस युग में हुई है शायद १८वीं शताब्दी की अराजकता में भी वह नहीं हुई थी।

दिल्ली की जामी-मस्जिद इससे बड़ी और इससे कही अधिक सुन्दर है (चित्र-८८) इसे शाहजहां ने १६५० में पूरी कराया। मह ३० फीट ऊँची चौकी पर बनी है और द्वारों तक जाने के लिये इसलिए बड़ी सुन्दर सीढ़ियां बनाई गई हैं। आराधना भवन के मध्य में एक विशाल महराब है और दोनों ओर

पांच-पांच महराबों की शृंखला है। अन्त में लम्बी घारीदार मीनारें हैं जिनके ऊपर छतियां सुशोभित हैं। तीन घारीदार गुम्बद आराधना भवन को आच्छादित करते हैं। यह रत्ना-विधान आगरे की मोती-मस्जिद जैसा तो सुन्दर नहीं है किन्तु आंखों को बुरा भी नहीं लगता है। वास्तव में संगमरमर की व्यक्तिगत मस्जिदों से इन जामी-मस्जिदों की तुलना नहीं की जा सकती। अपने बगं में ये निस्सदेह सफल रचनाएँ हैं।

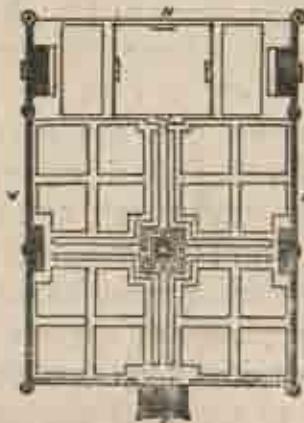
ताजमहल

सासार के इस महान् आञ्चल्य का निर्माण शाह-जहां ने अपनी प्रिय पत्नी अर्जुमन्द बानू वेगम की स्मृति में कराया। वह अतिशय सुन्दरी थी। शाह-जहां ने उसे मुमताज महल का नाम दिया था। वह उससे अनन्य प्रेम करता था। १६२२ में जब शाह-जहां ने जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो मुमताज उसके साथ थी। पांच वर्ष के विद्रोही जीवन में मुमताज उसके साथ मालवा, दक्षिण, उडीसा, बंगाल और विहार में मारी-मारी फिरी। १६२८ में जब शाहजहां गढ़ी पर बैठा तब कहीं जाकर चैन मिला। किन्तु १६३० में ही जब शाह-जहां विद्रोही खान-ए-जहान लोदी का पीछा कर रहा था, मुमताजमहल की बुरहानपुर में मृत्यु हो गई। शाहजहां को इससे बड़ा गहरा घबका लगा। वह फूट-फूट कर रोया। उसके इतिहासकार लाहोरी का कथन है कि इस दुर्घटना से पहले उसकी दाढ़ी में बीस बाल भी सफेद नहीं थे, इस दुर्घटना के पश्चात् उसके अधिकांश बाल सफेद हो गये। उसने मनोविनोद, भड़कीले कपड़े, उत्तम पकवान आदि का परित्याग कर दिया और शौक में हूबा रहा। इसी प्रिय मुमताज की स्मृति को अमर कर देने के लिये उसने एक सुन्दर मकबरा बनवाने का निश्चय किया। वैसे भी उसे इमारतें बनवाने का बड़ा शोक था और इस माध्यम से उसे अपनी शक्ति को अधिकाधिक सुन्दर ढंग से व्यक्त करने का अवसर मिल गया।

उसने विभिन्न स्थपतियों की एक सभा बुलाई और उसमें अपना मन्तव्य प्रकट किया। उसने ऐसे मकबरे का नक्शा बनाने का मार्गेश दिया जो

नायाब, कमाल, लतीफ और अजीबो-भरीब हो। हरेक स्थपति ने अपने-अपने नक्शे पेश किये। एक नक्शा प्रसन्न किया गया। उसमें जाहजहां ने घटाबढ़ी की ओर फिर उसके अनुसार लकड़ी का एक 'माडल' बनाया गया (बमूजिब आ नक्शा लतीफये रोजये चौड़ी तेजार शुद)। बास्तव में लकड़ी के बहुत से 'माडल' बने और ताजमहल के अनुपातों को इनमें ही अनितम रूप दिया गया। फिर उसे बास्तविक आकार में पत्थर का बना दिया गया। इसीलिए ताजमहल इसना विशाल होते हुए भी खिलोना-सा लगता है।

यहां भी चार बाग योजना का प्रयोग हुआ किन्तु उसमें एक बड़ा सुन्दर परिवर्तन किया गया (चित्रांकन-३)। अब तक मकबरे चार-बाग के मध्य



३. ताजमहल का योजना-विभास

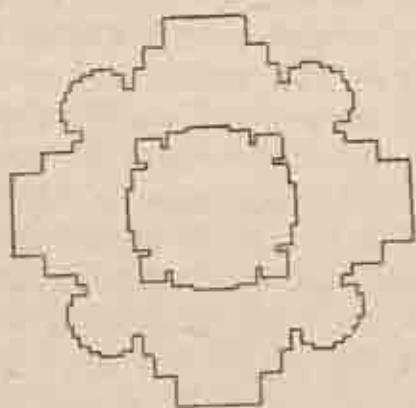
में बनाये जाते थे। यहां मध्य में संगमरमर का एक तालाब दिया गया और मकबरे की बाग के उत्तर में ठीक यमुना नदी के ऊपर बनाया गया। सम्पूर्ण बाग को जैसे प्रेम के इस सुन्दर स्मारक के चरणों में रख दिया गया है (चित्र-८६)। इससे इसके सौन्दर्यमें एक विशेष अन्तर पड़ा। अबतक पूर्व भूमि और पृष्ठभूमि एक बाग ढारा ही प्रस्तुत होती थी। यहां बाग से केवल पूर्व भूमि (Setting) का विन्यास हुआ। संगमरमर के इस विशाल भवन की पृष्ठभूमि में खाली नीला आकाश आ गया। यह आकाश नित्य प्रति नये-नये रंग बदलता है और ऐतें संगमरमर की इमारत पर आकाश के ये रंग प्रति-विस्तित होते हैं। प्रातः इसका रंग नगिस जैसा

हल्का पीला सा लगता है। दो बहर में वह ऐतें कमल सा दमदमाता है। सांझे को गुलाब के फूल की तरह रक्किम-सा हो जाता है। तारों भरी रात में जैसे यह सो जाता है। विभिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं में इसे विभिन्न 'मूड़ों' में देखा जा सकता है। ताज सदा नया लगता है। कमशः बदलती रहने वाली पृष्ठभूमि के कारण ही यह जादू सम्भव हुआ है। स्थपति ने ताज के सौन्दर्य को प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध करके सही अर्थों में यहां कमाल कर दिया है।

मुख्य द्वार (चित्र-६०) दक्षिण की ओर है पूर्वी और पश्चिमी भुजाओं के मध्य में आलंकारिक द्वार नहीं हैं, जल-महल हैं जो चौड़ी नहरों के ऊपर बढ़े सुन्दर लगते हैं। चार बाग के मध्य में स्थित संगमरमर के तालाब से मुख्य द्वार और मकबरे के छोर तक दोनों ओर भी एक चौड़ी नहर है जिसमें कमल की कली की आकृति के फुहारे लगे हैं। ताजमहल में पत्थर के भरने नहीं हैं, बहते हुए पानी की व्यवस्था का सौन्दर्य नहर और फुहारों द्वारा लाया गया है। ताजमहल का प्रतिबिम्ब इस नहर में विविध रूपों में देखा जाता है। बाग और पानी की इस सुन्दर पूर्व भूमि में ताजमहल को प्रस्तुत किया गया है।

एक बृहत् आयताकार मंच पर ताजमहल ठीक जमुना के ऊपर बनाया गया है। इसके एक ओर एक मस्जिद है और दूसरी ओर बैसा ही मेहमान-खाना है। ये दोनों लाल पत्थर की इमारतें हैं जिन में संगमरमर का प्रयोग हुआ है। अन्दर उत्कर्तित चित्रकारी की गयी है। जिस चौकी पर ताजमहल स्थित है वह १६ फीट ऊंची है। ये सारी रचना ऐतें संगमरमर की है। मुख्य मकबरा बगँकार है किन्तु उसके कोणों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे वह अठपहलू प्रतीत होता है। इन कोणों के ठीक सामने चौकी के कोणों पर चार अत्यन्त सुन्दर मीनारे हैं जिनके ऊपर छत्रियां सुशोभित हैं। ये मीनारे बड़े आकर्षक ढंग से इमारत को चारों ओर धेरे हुए हैं जैसे कोई रानी श्रपनी सहेलियों के बीच खड़ी हो। ह्रमायूँ के मकबरे बैसा खट्कने वाला एकाकीपन इसमें नहीं है (चित्र-६१)।

प्रत्येक भूजा में एक विशाल महराव है जिसके दोनों ओर दुमन्जिले लघु-महराव हैं। कोनों पर भी ऐसे ही लघु महराव हैं। सामने के महरावों की योजना आयताकार है जबकि कोनों के महरावों को अठपहलू योजना पर बनाया गया है जिससे वे किसी भी स्थान से देखने पर मुख्पट से सम्बद्ध दिखाई दें। अन्दर ८० फीट ऊँचा एक विशाल हाल है। कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं। भूजाओं के केन्द्र में वर्गाकार कक्ष है। इन सबको बड़े-बड़े आलिन्दों द्वारा सम्बद्ध किया गया है (चित्रांकन-८)। दूसरी मंजिल पर भी यही विधान है। प्रवेश द्वार को छोड़कर सभी बाहरी महरावों को छोटे-छोटे गोशों के टुकड़ों को पत्थर की जालियों में लगाकर बनव कर दिया गया है। अन्दर की इस योजना की प्रेरणा हमायूँ के मकबरे से ली गई। वैसे हमारे यहाँ हेमकूट मन्दिर भी इसी योजना पर बनते थे (चित्रांकन-९) और यह सम्भव है कि मूलरूप से यह विन्यास हेमकूट मन्दिर की योजना से प्रेरित हो।



९. हेमकूट मन्दिर की योजना

अन्दर के हाल में महरावों के ऊपर कुरान की आयतों के अभिलेख अंकित हैं। जिलापट्टों पर विशेष अलंकरण किया गया है। इनके मध्य में संगमरमर में कमनीय ढंग से काटे गए घट-पल्लव हैं जिनमें फूल पत्तियों को वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया गया है (चित्र-६२)। इनके हालियों में रगीन पत्थरों का जड़ाऊ काम है जिसमें लंगों करित डिजाइन है। ऐसा ही जड़ाऊ काम कब्रों के चारों ओर वने संगमरमर के पदों की सुन्दर जालियों के

हालियों पर है (चित्र-६३)। ये महीन जालियां, कलात्मक घटपल्लव और जड़ाऊ काम अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की कलाएँ हैं और अपने-अपने दोनों में अद्वितीय हैं। संसार में ऐसे सुन्दर जिलापट्टों का अन्यत्र कहीं प्रयोग नहीं हुआ है।

उठवं रचना का विन्यास भी अत्यन्त आकर्षक ढंग से हुआ है। इमारत के ऊपर एक विशाल ऊँचा उठा हुआ बल्वाकार गुम्बद है जिस पर सुन्दर पद्मकोण और कलश हैं। इसके साथ चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां हैं। वास्तव में ये छत्रियां गुम्बद से सम्बद्ध नहीं हैं किन्तु हमायूँ के मकबरे की तरह ये गुम्बद से हटी हुई दिखाई नहीं देती। इन्हें सदैव गुम्बद के साथ बड़े सुन्दर ढंग से सम्मिलित देखा जाता है। गुम्बद की कुल ऊँचाई १४५ फीट है। निश्चय ही ताजमहल का सौन्दर्य इस विशाल दुर्वेर गुम्बद के कारण है। यह इमारत को सुन्दरतम् उठान ही नहीं देता, न भरेखा पर एक मनोरम हृष्य भी उपस्थित करता है। चारों ओर से उठे हुए सम्बद्ध स्तम्भों पर आधारित निर्झूहों और छत्रियों के बीच में वह गुम्बद अद्वितीय सुन्दर लगता है। सम्पूर्ण रचना एक रूप है और विभिन्न अंगों में अभूतपूर्व तालमेल है। ताजमहल के अवरणीय सौन्दर्य के बहुत से पक्षों में बाल-बाल भर रेखागणित के सिद्धान्तों के मनुसार समानुपात और विभिन्न अंगों का एक रूप तालमेल भी है।

कियदम्ती के अनुसार शाहजहां यमुना के दूसरी ओर ऐसा ही एक मकबरा काले पत्थर का बनवाना चाहता था। यह सही नहीं है। तत्कालीन इतिहास-कार लाहौरी और कम्बों ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। कांसीसी यात्री टेवर नियर ने इस संबंध में तीन घटनाओं को अनेतिहासिक रूप से जोड़ दिया है— ताज का १६४८ में पूर्ण होना, १६५८ में शीरंगजेब का शाहजहां को कोद करके गढ़ी पर बैठना और १६६५ में टेवरनियर का आगरे आना और इस बात का उल्लेख करना। ताज के सामने स्थित खण्डहर इस योजना की नींवें नहीं हैं वे बावर के लगाये महताव बाग के अवशेष हैं। मुख्य कक्ष में कब्रों की स्थिति से भी इस बात का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु यह भी सही नहीं है। मुमताज की

कव यहां बीचों-बीच में ठीक उसी प्रकार है जैसे अस्मिन वेगम की कव ऐत्मातुदीला के मकबरे में बीचों-बीच में है। वहां इसके चारों ओर एक पर्दी होने से मार्ग अवश्य हो जाता है और यह भ्राति बन जाती है।

ऐसी ही कुछ और अम पूर्ण कहानियां इस संसार प्रसिद्ध इमारत के विषय में प्रचलित हो गई हैं। १६ वीं शताब्दी के कुछ योरपीय विद्वानों ने यह गोष्ठित कर दिया कि इसका स्थापति जिरोनिमो विरोनियों नाम का एक इटली निवासी था। यह सही नहीं है। वह स्वर्णकार था और सोने की जडाऊ वस्तुएँ बनाने का विशेषज्ञ था। अपेक्ष याकी पीटर मण्डो के साथ वह काफी रहा और मण्डो ने भी उसे स्वर्णकार ही बताया है। ऐसी ही भ्राति बोहे के आस्टिन के विषय में है। वह नकली जवाहिरात बनाने में सिद्धहस्त था और स्वयं अपने पत्रों में वह इस बात का उल्लेख करता है। यह सही नहीं है कि संगमरमर में जडाऊ काम की कला भारतीय कारीगरों द्वारा उसने सिखाई।

किसी भी तत्कालीन इतिहास वृत्त में ताजमहल के स्थापति का नाम नहीं दिया गया है। अनुमान से कुछ नाम लिये जाते हैं जैसे उस्ताद ईसा और उस्ताद अहमद। लाहोरी और कम्बो इनका उल्लेख नहीं करते। ही सकता है उस्ताद अहमद नामक स्थापति शाहजहां के यहां भवन-निर्माण विभाग में नियुक्त हो। किन्तु ताजमहल की योजना और अद्भुत डिजाइन का अध्ययन उसे प्राप्त नहीं होता है। शाहजहां की स्वयं की मुरुचि को इस सम्बन्ध में सुलाया नहीं जा सकता। बास्तव में ताज मुगल बास्तु-जीलों के क्रमिक विकास की चरमावस्था है और इसके सभी तर्सों का पहले की इमारतों में अध्ययन किया जा सकता है। चार बाग योजना और बहुत हुए पानी की व्यवस्था, ऊँची चोकी, मीनारें, ईवान, गुम्बद के साथ छतियों का पंचरत्न प्रयोग आदि सभी तत्त्व प्रयोगात्मक रूप में प्रयुक्त हो चुके थे। ताजमहल में उन्हें सुन्दरतम और परिपक्व-वस्था में उपयोग में लाया गया है। यह लकड़ी के माडलों में डिजाइन बनाने की विधि के कारण संभव हुआ। किसी एक व्यक्ति को इसको

इस सुन्दर योजना का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता।

एक और नई कहानी इस विषय में गढ़ली गई है कि यह मूलरूप से राजपूत महल या और शाहजहां ने उसे मकबरे में परिवर्तित कर लिया। अगर कोई इतना सुन्दर महल मानसिंह या किसी ब्रान्थ राजा ने बनवाया था तो राजपूत इतिहास वृत्तों में उसका किंचितमात्र भी उल्लेख क्यों नहीं है? अगर शाहजहां ने पहले से मौजूद किसी विशाल महल को मकबरे में परिवर्तित किया तब तो राजपूत इतिहास वृत्त कुछ उल्लेख करते। किन्तु एक शब्द भी परिवर्तन को कहानी के विषय में नहीं कहा गया है। कारसी के इतिहास वृत्त भी इस कहानी के पक्ष में कुछ नहीं कहते। अगर ये महल बाबर के समय में मौजूद था तो बाबर ने यमुना के दूसरी ओर चार बाग बनवाते समय इसे अवश्य देखा होता और अपनी आत्मकथा में उसका उल्लेख किया होता। क्या उसने १५२६-३० के मध्य में ही यह अनुमान लगा लिया था कि उसका एक वंशज १६३१-४८ के मध्य इस महल को मकबरे में परिवर्तित करेगा इसलिये उसे अपनी आत्मकथा में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखना चाहिये? अगर इसे मानसिंह ने बनवाया तो निजामुद्दीन बदायूं नी और अबुलफज्जल में से किसी ने भी इसका उल्लेख क्यों नहीं किया। मान लीजिये कि वे सब इस घड़यन्त्र में जामिल थे तो विदेशी यात्रियों ने यह बात क्यों नहीं बताई? हाकिन्स टामसरो और एडवार्ड टेरी तो आगरे में बाजी रहे किन्तु यहां ऐसे किसी महल के होने का कोई उल्लेख वे नहीं करते। जी लायट तो नाव लेकर यमुना के ऊपर नीचे खुब मटर गश्ती करता था और वह अपने वृत्तों में बारीक से बारीक बातों का बराण करता है। किन्तु वह भी यहां संगमरमर के किसी महल के होने का उल्लेख नहीं करता। १६३१ में पीटर मण्डो स्पष्ट लिखता है शाहजहां अपनी पत्नी की स्मृति में एक विशाल मकबरा बनवाना प्रारम्भ कर रहा है। टेवरनियर, मनूकी और वर्नियर—सभी इस बात का समर्थन करते हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि यह परिवर्तित महल है। इन विदेशी यात्रियों

को यह बात छिपाने की क्या आवश्यकता थी ?

अब्दुल हमीद लाहौरी स्पष्ट लिखता है कि वह जमीन जो इस मकबरे के लिये चुनी गई थून रूप से राजा मानसिंह की थी और इस समय उनके पोते राजा जयसिंह के अधिकार में थी। उन्हें इसके बदले में सरकारी जमीन दे दी गई और यहां नींवों से इमारत बनाने का काम प्रारम्भ हुआ। कम्बो इसका समर्थन करता है। ताजमहल बनने में लगभग १७ वर्ष लगे और वहां निरन्तर २०,००० मजदूरों ने काम किया। मित्र राज्यों से विभिन्न प्रकार के पत्तर प्राप्त हुए। सरकारी खजाने से ४०,००० तोले सोना दिया गया जिसकी कीमत उस समय ६ लाख रुपये थी। अधिकांश खचं कारीगरों और मजदूरों को बेतन देने में हुआ। इन दोनों तत्कालीन इतिहासकारों ने ताजमहल ने निर्माण के सम्बन्ध में विश्वृत तथ्य दिये हैं और कहानियां गढ़ लेने की मुंजायगत नहीं हैं।

बात वास्तव में यह है कि मुगल वास्तुकला के विकास को कुछ लोग समझ नहीं पाते हैं। अगर उन्हें किसी मुगल इमारत में खस्ते या तोड़े, पट्टकोण या कलश, कमल या चक्र मिल जाता है तो वे विकास की प्रतिक्रिया का अध्ययन किये बिना ही घोषणा कर देते हैं कि ये परिवर्तित हिन्दू इमारत हैं। मध्यकाल में किस प्रकार दो पद्धतियों के विभिन्न तत्त्वों से मिलकर यह शैली विकसित हुई—वे जानकर भी नहीं जानना चाहते। हमारे यहां क्या रचना विद्यान था—यह भी वे नहीं जानते। इतिहास उन लोगों की हास्ति में एक कहानी है—एक मजाक है, जो राजनीतिक उद्देश्यों से बढ़ाया गया, तोड़ा—मरोड़ा जा सकता है। ये दो हैं यह गप कुछ इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि इतिहास को मूल धाराओं से अनभिज्ञ व्यक्ति इस पर सहज ही विश्वास करने लगता है। वास्तव में यह बात उतनी ही झूठ है जितना यह कहना कि काश्मीर का मातंण्ड का मन्दिर यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने बनवाया था।

ताजमहल केवल एक शाही मकबरा ही नहीं है, यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट कलाकृति है। विशेषकर जांकनी रातों में इसकी शोभा देखते ही बनती है।

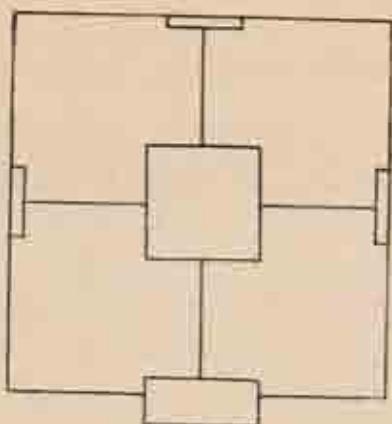
यह एक सुन्दर स्मारक है और इससे भी अधिक, यह एक कलापूर्ण प्रतीक है—मुमताज के सौन्दर्य का प्रतीक ! उसके व्यक्तित्व, उसके अद्वितीय सौन्दर्य का सजीव प्रतिविम्ब। मुमताज के सुन्दर, सांचे में ढले शरीर के अनुरूप ही ताजमहल के अनुपात हैं कि कहीं बालभर भी फरक नहीं है। ताज के स्थपति ने सही अर्थों में इसे मुमताजमहल के स्त्रीत्व का प्रतीक बनाया है (चित्र-६४)। व्यक्तित्व और सौन्दर्य का ऐसा परिपक्व प्रतिष्ठापन जिसके चरणों में वास्तु के सारे सिद्धान्त लौट रहे हैं, शायद कहीं और किसी भी युग में नहीं हुआ है।

ताजमहल १६४८ में बनकर पूरा हो गया। १६५८ में औरंगजेब ने शाहजहां को केंद कर लिया और अपने भाइयों और भतीजों को मारकर उह गढ़ी पर बैठा। उसे न चित्रकला का शीक था, न संगीत का, न इमारतों में ही उसकी कोई रुचि थी। शाहजहां ने जिन कलाकारों को अपने दरबार में एकत्रित किया था, धीरे-धीरे वे हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गये। मुगल दरबार की शानदृकता उजड़ गई। राजनीतिक ह्वास के साथ सांस्कृतिक पतन भी प्रारंभ हो गया और धीरे-धीरे मुगल कलाओं का केवल इतिहास थोप रह गया।

लगभग एक शताब्दी तक पल्लवित मुगल वास्तु-कला के कुछ प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :—

- (१) इसमें बाग और बहते हुए पानी की कृत्रिम व्यवस्था की जाती थी जिससे बातावरण तो मनोरम हो ही जाता था, इमारत को एक सुन्दर स्थिति में भी प्रस्तुत किया जा सकता था।
- (२) इमारत को सौन्दर्य सिद्धान्तों के अनुसार अधिक से अधिक उठात दिया जाता था; अनुपातों और विभिन्न अंगों में तालमेल का व्यान रखा जाता था। सम्पूर्ण रचना एकरूप होती थी।
- (३) मुगल वास्तु-कला में नियूंहों, छत्रियों और गुम्बदों के द्वारा ऊर्जवरचना का सुन्दर विव्यास किया जाता था। शाहजहां का स्थपति तो ऊर्ज्व रचना पर विशेष व्यान देता था।

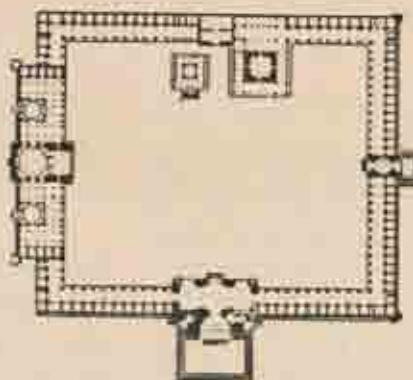
- (४) इन रचनाओं में उपयोगिता को उतना महत्व नहीं दिया जाता था जितना सौन्दर्य तत्त्व और प्रतीकों के प्रकाशन को भावना को। बहुत-सी इमारतें मकबरे और मस्जिदें कम हैं कलाकृतियाँ अधिक हैं। उनमें साम्राज्य के वैभव और चमकदमक का प्रतिविम्ब है।
- (५) इन इमारतों में रचना और अलंकरण का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। अलंकरण कहीं भी रचनाक्रम पर हावी नहीं होता और सर्वेव गौण रहता है। इमारत में अलंकरण की अपेक्षा वास्तु तत्त्वों से सौन्दर्य लाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ इमारतों का सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तुक (Architectonic) है।
- (६) मुगल वास्तुकला में दो शैलियों का समन्वय हुआ है त्रिज्याकार और समतल। दोनों के तत्त्व एक दूसरे में बड़े सुन्दर ढंग से घुल-मिल गए हैं जैसे खम्भोंदार महराव के ऊपर तोड़े और अज्जे गुम्बद पर पद्मकोण और कलज़ और उनके साथ छत्रियों का प्रयोग। बाहर से आने वाली प्रेरणाओं को स्वीकार किया गया है। धोरें-धीरे इस प्रकार एक राष्ट्रीय शैली का विकास हुआ।
- (७) मुगल वास्तुकला धर्म-निरपेक्ष कला है। अब तक भारत की सभी वास्तु शैलियाँ धार्मिक भावना से प्रेरित थीं, इस पूरांतया लौकिक कला का विकास मुगलों के सरकार में ही सम्भव हुआ। इस्लाम में वर्जित पशु-पश्चियों की अनुकृतियाँ भी इस शैली के अन्तर्गत बनाई गईं। बास्तव में धार्मिक मानदण्डों से इस कला ने कोई निर्देशन नहीं लिया।
- (८) यह विशुद्ध दरबारी कला है। दरबार के सरकार में इसका प्रादुर्भाव हुआ, पली और विकसित हुई। दरबार का सरकार न रहा तो यह कला भी समाप्त हो गई। इसका लोक-भावना से उतना समन्वय नहीं था न यह जनजीवन की अभिश्चियों या आस्थाओं को लेकर ही जन्मी थी। परिणामस्वरूप इस कला के अन्तर्गत बनी इमारतों पर बनवाले बाले की अक्तिगत छाप है। कुछ स्पष्ट अकबर की हैं कुछ शाहजहां की। ये उस मुग में व्यापक धाराओं का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करतीं जितने अपने बनवाने वाले की रुचियों और भान्धताओं का।



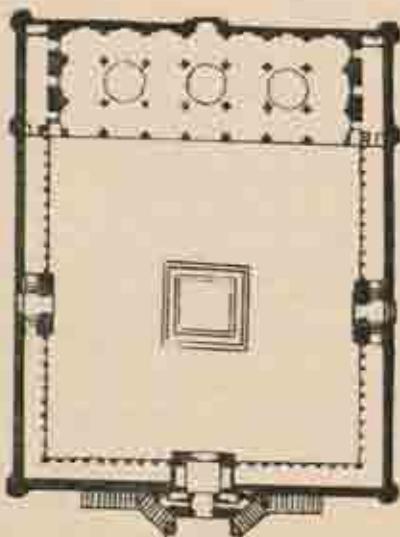
चित्रांकन (१) — चारबाग व्यवस्था
(देखिये पृष्ठ-५४)



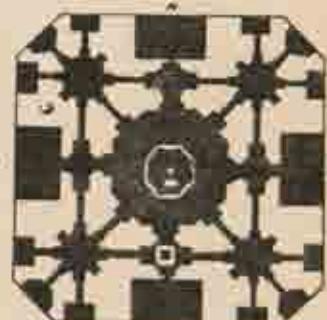
चित्रांकन (२) — आगरे का किला, दिल्ली-द्वार
की सैनिक योजना
(देखिये पृष्ठ-५८)



चित्रांकन (३) — जामो मस्जिद (फतेहपुर सीकरी)
का योजना विन्यास (देखिये पृष्ठ-५६)



चित्रांकन (४) — मोती मस्जिद (आगरे का
किला) का योजना-विन्यास
(देखिये पृष्ठ-५६)



चित्रांकन (५) — ताज महल-मूर्त्य कला
की योजना
(देखिये पृष्ठ-७३)

उपसंहार

मध्यकाल की हिन्दू वास्तु-कला और समन्वित शैली का विकास

इस युग की हिन्दू वास्तु-कला में दो भावनाएँ व्याप्त थीं। एक के अन्तर्गत तो निर्माण कार्य पूर्णतया श्राचीन परम्पराओं पर होता था और उसमें नवीन प्रेरणाओं को कहीं भी स्वान नहीं मिला था। मुख्यतः इसमें मन्दिरों की गिनती है। दसवीं शताब्दी में जो वास्तु शैलियाँ विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित थीं उनके क्रमिक विकास में नवयुग के अवतरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ये देशज शैलियाँ अपनी आस्थाओं और रुचियों के अनुकूल ही पलती रहीं। पूर्व में उड़ीसा में कोणार्क का प्रसिद्ध मूर्ति मन्दिर १३ वीं शताब्दी में बना। १३ वीं शताब्दी में ही दक्षिण में सुन्दर पण्ड्या का का गोपुरम और सोमनाथपुर के केशव-मन्दिर का निर्माण हुआ। दक्षिण में मुसलमानों की तोड़फोड़ की गतिविधियाँ उतनी व्यापक नहीं थीं जितनी उत्तरी भारत में और यहाँ अनवरत निर्माण कार्य होता रहा। १४ वीं शताब्दी में तिळमलाई और कुम्भकोनम के मन्दिर और तजोर के ऐरावतेश्वर मन्दिर बने। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत भी बड़े-बड़े निर्माण हुए। इनमें विट्ठल स्वामी का सुन्दर मन्दिर अभी शोध रह गया है। १६ वीं शताब्दी में भी यह रचना क्रम चलता रहा और मदुरा

बेलूर श्रीरांगम, चिदम्बरम, रामेश्वरम, त्रिचनावल्ली और द्रावनकोर में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें मदुरा का मीमांशी मन्दिर बड़ी उत्कृष्ट कृति है।

ग्राम का तेजपाल का मन्दिर १३ वीं शताब्दी में बना। गुजरात में गिरमार और पालीताना के पहाड़ी तीर्थों में भी कुछ जैन मन्दिर बनवाए गए। किन्तु गुजरात का प्रदेश निरन्तर या तो दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता के अधीन रहता था, या स्वतन्त्र मुस्लिम सुल्तान वहाँ राज्य करते थे। इसलिए वास्तुकला की हाफ्ट से अत्यन्त सूजनात्मक प्रदेश होते हुए भी यहाँ विशुद्ध हिन्दू वास्तु-कला की कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

हमारी और मध्यकाल के कुछ राजाओं ने ऐसी भी इमारतें बनवाईं जिनमें हिन्दू-मुस्लिम मिथित शैली का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। ग्वालियर का मानमन्दिर (चित्र-६५) इस हाफ्ट-कोण से विशेष उल्लेखनीय है। इसे राजा मानसिंह (१४८६-१५११) ने बनवाया। इसमें मूल रूप से तो हिन्दू पद्धति का ही पालन हुआ किन्तु नई प्रेरणा को भी उपयोग में लाने वा प्रयत्न किया गया है। कुछ कमरों में त्रिज्याकार महराव बनाए गए हैं। छतियों में गुम्बदों की विधि काम में लाई गई है। सबसे मुख्य बात पूर्वी दीवार और अन्दर के

आंगनों में रंग विरणी टाइलों का प्रयोग है। (चित्र-१६) यह विशुद्ध ईरानी अलंकरण है जो सल्तनत काल में मुसलमानों के साथ भारत में आया। इस काल में मान-मन्दिर ही एक मात्र हिन्दू कृति है जिसमें इस अलंकरण का बड़े व्यापक प्रयोग पर मुक्त हृदय से उपयोग हुआ है।

मेवाड़ के प्रतापी महाराणा कुम्भा (१४३३-५८) इमारतों के निर्माण में बड़ी रुचि लेते थे। कहते हैं उन्होंने मेवाड़ में ३२ किलों का निर्माण कराया, बसत्तपुर नामक नगर की नींव ढाली और ७ भीलें बनवाई। कुम्भलगड़ का दुर्ग वास्तव में उनकी रचनात्मक प्रतिभा का प्रत्यक्ष प्रतीक है। उन्होंने मालवा के मुलतान महमूद खिलजी को हराया और इस उपलक्ष में चित्तोड़ में ६ मंजिल का विजय-स्तम्भ बनवाया जो वास्तु और शिल्प की हाईट से एक ग्रन्थि छुट्टी है। सबसे ऊपर छतों का गुम्बद धारोदार है और बड़ा आकर्षक लगता है। उन्होंने के राज्यकाल में रणपुर के विशाल जन मन्दिर का निर्माण हुआ। इसमें मध्य में आदिनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा है, चार कोनों पर चार उप-मन्दिर हैं। कुल ८८ मण्डप हैं और ४४ शिखर हैं। पांच मन्दिर-कक्षों पर पांच गुम्बद हैं। कुल १०४४ खम्मे हैं जिनमें प्रत्येक अपने ढंग का अकेला है। खम्मों को प्रत्येक दिशा में बड़े सुरुचिपूर्ण ऋम से लगाया गया है। शिखरों के साथ गोलाकार गुम्बद बड़े सुन्दर लगते हैं। साथ-नाथ वे मध्यकाल की मिथित वास्तु जैली के भी परिचायक हैं जिसके अन्तर्गत महरबों और गुम्बदों का प्रयोग हिन्दू तत्त्वों के साथ-साथ होता था। इस मन्दिर में मूल्यवान् पत्थरों द्वारा जड़ाक काम (Inlay) करने का भी सबसे पहले प्रयत्न किया गया है।

मध्यकाल के आरंभ में वास्तुकला के दो बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण हुआ। समरांगण सूत्रधार जिसे राजा भोज ने ११वीं शताब्दी में लिखा था और मानसार जो दक्षिण में लिखा गया। महाराणा कुम्भा के संरक्षण में भी वास्तु पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये। उनके स्वपति आचार्य मण्डन ने वास्तु और शिल्प पर उनके ही संरक्षण में निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे:-

(१) देवतामूर्ति प्रकरण, (२) प्रासाद मंडन,
(३) राजवल्लभ, (४) रूपमंडन, (५) वास्तु मंडन,
(६) वास्तु शास्त्र, (७) वास्तु सार, (८) रूपावतार।

मण्डन के पुत्र गोविन्द ने उद्धारधोरणी, कलानिधि और दारदीपिका नामक ग्रन्थ लिखे। मण्डन के भाई नाथ ने वास्तुमंजरी की रचना की। कुम्भा ने विजय-स्तम्भ के विषय पर भी अपने एक स्वपति से एक ग्रन्थ लिखा था। और इसे पाषाण फलकों पर खुदवाया। इसका एक फलक अभी उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। ध्यान देने की बात यह है कि मध्यकाल में किसी भी युग में चाहे वह मुगलों का स्वर्ण-युग ही क्यों न हो, मुस्लिम वास्तु-कला पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया और स्पष्ट ही निर्माण भारतीय सिद्धान्तों पर होता रहा। मध्यकाल की मुस्लिम इमारतों में कुतुबमीनार से ताज-महल तक भारतीय कारीगरों ने काम किया और उनकी रचना भारतीय वास्तु शास्त्रों के आधार पर हुई। सदैव भारतीय तालमान ध्यान में रखे गये। विदेशी प्रेरणाओं को इन कलाविदों ने अपनी शैली में घोलमेल लिया और वास्तु-कला को एक नया रूप-और निश्चय ही एक नया जीवन-दिया। भारतीय संस्कृति की अनवरत धारा में मध्यकाल का यही महत्वपूर्ण योगदान है।

इस सम्बन्ध में बुन्दावन का गोविन्द देव का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका निर्माण मुगलकाल में १५६० ई० में अम्बर के राजा और विल्यात मगल मनसवादार राजा मानसिंह ने कराया। रूपा और सनातन नामक दो आचार्यों के निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ। मूलरूप से इसकी योजना बड़ी विशाल थी। सात भव्य शिखरों का नमरेखा पर आयोजन किया गया था। ये अब खेप नहीं हैं। किन्तु लाल पत्थर की अत्यन्त कलात्मक इस इमारत में हिन्दू मुस्लिम मिथित शैली के बहुत से विशिष्ट तत्त्वों के अन्त भी दर्शन होते हैं। खम्मे तोड़े और प्रसादिकाओं के साथ महरबों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। इनमें बढ़ी के फलों की माला लगाई गई है। कुछ छतों त्रियाकार हैं और अनुमान है कि उनके ऊपर गुम्बद बनाए गए होंगे। इस कृति से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय कारीगर

महराव का भी मन्दिर में वैसा ही सुन्दर और सफल प्रयोग कर सकते थे जैसा उसका प्रयोग मस्जिद में किया जाता था।

मुग़लकाल में ही मध्यप्रदेश और राजपूताना के राजपूत राजाओं ने आवास के लिये बड़े-बड़े महल बनवाये। और यह का भूल १६०० के आसपास बना। वीरसिंह देव ने ही १६२० में दतिया का सतमांजिला विशाल महल बनवाया जो मिथित शैली का एक उत्कृष्ट उद्याहरण है। अम्बर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर में भी बड़े-बड़े महल बनाए गये। उदयपुर में पिछोला झील की सुन्दर पृष्ठभूमि में भूलों का निर्माण हुआ। इन सभी रचनाओं में खम्भे तोड़े और प्रसादिकाओं के साथ महरावदार तत्त्वों का प्रयोग हुआ। गुम्बददार छत्रियां बनाई गईं। अलंकरण की भी मिथित साज-सज्जा रही। १७वीं शताब्दी के अन्त तक वास्तु की दोनों पद्धतियां चुलमिल कर एक हो गई जैसे गंगा जमुना का पानी हो। स्पष्ट ही गंगा ने जमुना को आत्मसाध कर लिया और अपने मार्ग पर चलती रही।

इस समन्वय से वास्तु की राजपूत शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अन्तर्गत १६वीं और १८वीं शताब्दी में बड़े-बड़े महल और छत्रियां बनवाई गईं। विशेष रूप से यह शैली छत्रियों के रचनाविन्यास में विकसित हुई। मुग़ल मकबरे की तरह राजपूत छत्रियों भी हिन्दू राजाओं की स्मृति में समाधि के रूप में बनवाई गईं, विशाल इमारतें हैं। स्मरणीय है कि हमारे यहां ऐसा कोई विधान वास्तव में नहीं है। प्राचीनकाल में मृतक की अस्थियां जहां गाड़ी जाती थीं वहां मिट्टी का एक 'थूप' बना दिया जाता था। इसी से स्तूप का विकास हुआ। जैरों ने और उनके पश्चात् बुद्धों ने स्तूप-कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। किन्तु स्तूप भी मकबरा नहीं था। वास्तव में मृत पूजा का प्रचलन होने से पहले स्तूप या उसकी अनुकूलित की पूजा की जाती थी। अब यही इसमें बुद्ध या किसी महान् व्यक्ति का कोई अवशेष रखा जाता था किन्तु इसका मूलरूप से धार्मिक महत्व ही था। शरीर नाशवान् है और मृत्यु के पश्चात् पंचभूतों में विलीन हो जाते हैं। इसलिए मकबरे बनाने का विचार हमारे यहां

कभी नहीं पनपा। मध्यकाल के अन्तिम चरणों में मुग़लों के बड़े-बड़े मकबरों की पद्धति पर राजपूतों ने मकबरे बनाना आरम्भ किया और इनके इन मकबरों को ही छत्रिया कहते हैं। वैसे १७वीं शताब्दी के मध्य से ही इन राजपूत छत्रियों का बनना प्रारम्भ हो गया था। आगरे में राजा जसवन्तसिंह ने आगे भाई अमरसिंह राठोर और उसके शब के साथ सती हुई हाड़ा रानी की स्मृति में यमुना के किनारे ही एक विशाल छत्री बनवाई जिसे भूल से आज राजा जसवन्तसिंह की छत्री कहा जाता है। राजा वीरसिंहदेव बुन्देला की कलात्मक छत्री और यहां में बनी। धीरे-धीरे छत्री बनाना राजपूत राजाओं में मुग़लों में मकबरे बनवाने की तरह ही प्रचलित हो गया। उनकी देखा-देखी मराठों ने भी बड़ी-बड़ी छत्रियां बनवाईं। मधुरा के पास गोवर्धन, अलवर, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर के पास माण्डौर, बीकानेर, कोटा, छतरपुर और खालियर में अत्यन्त उत्कृष्ट छत्रियों का निर्माण हुआ। इनमें खम्भों के साथ मुड़े हुए तुकीले महरावों, छज्जों शीर्षों और छतों, और धारिदार गुम्बदों का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ। बांगों और बहते हुए पानी की व्यवस्था का भी आयोजन हुआ। शिवपुरी में तो मुग़लों का सा संगमरमर में जड़ाक अलंकरण किया गया। मुग़ल वास्तु शैली ने राजपूतों की इस छत्री कला को विविध रूपों में प्रेरित किया। कुछ छत्रियां मुग़लों के मकबरों से भी अधिक भव्य और सुन्दर लगती हैं। लेद है राजपूत शैली में निर्मित इस छत्री वास्तुकला के विशिवत् प्रध्ययन का अब तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। अब्येजों ने रियासतों में स्थित इन छत्रियों का अध्ययन नहीं किया इसके तो बहुत से कारण हो सकते हैं किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् हमने भी आखों खोलकर इन अद्भुत कलाकृतियों की ओर नहीं देखा यह दुःख की बात नहीं तो और क्या है।

मध्यकाल में सांस्कृतिक संघर्ष की बात भूठ नहीं है। यह सही है कि सल्तनत की स्थापना से लेकर मराठों के अभ्युदय तक, अकबर और उसके कुछ वंशजों को छोड़कर, मुसलमान शासक इस्लाम के कट्टर हिष्टिकोए के अनुसार राज्य करता था।

हिन्दुओं पर जजिया और तीर्थ कर जैसे अपमान-जनक और अन्यायपूर्ण कर थोप दिए गए थे। उनके मन्दिर सैनिक अभियानों में तो बवंरता का शिकार होते ही थे, विविवत् रूप से भी घवस्त किए जाते थे। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। राजनीतिक और सामाजिक हृष्टि से वे द्वितीय श्रेणी के नागरिक थे। उन्हें सरकारी सैनिक और असैनिक पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था। अकबर ने राज्य को धार्मिक प्रभाव से मुक्त कर दिया और अपनी उदार तीर्थियों से एक नए पूर्ण का सूत्रपात किया जिससे दोनों संस्कृतियों के समन्वय का भार्ग खुला। किन्तु मुस्लिम प्रतिक्रियावादियों ने उसकी मृत्यु के बाद उसके कायी पर पानी केर दिया। जहांगीर के राज्यकाल में ही शेख अहमद सरहिन्दी ने राज्य के मामलों में धर्म के स्थान को पुनर्स्थापित करने का आन्दोलन लड़ा किया। १६५६ का उच्चराधिकार का युद्ध बास्तव में दो विचारधाराओं का संघर्ष था। औरंगजेब के नेतृत्व में कटुरपंथी थे, दारा शुक्रोह के पीछे उदारवादी थे। औरंगजेब की विजय हुई और परिणामस्वरूप कटुर हृष्टिकोण साइराज पर छा गया। १६ वीं शताब्दी में शाह वली-उल्ला ने इस्लाम की पवित्रता बनाए रखने का आन्दोलन लडाया। १६ वीं शताब्दी में संख्यद अहमद खां ने इसी आन्दोलन को एक दूसरे रूप में प्रारम्भ किया। ७०० वर्ष का यह संघर्ष पाकिस्तान बनने के बाद भी नहीं थमा, और बंगला देश बनने के बाद भी ज्यों का त्यों है। यह सही है कि धार्मिक और सामाजिक धोन्ने में समन्वय सम्भव नहीं हुआ। बड़े-बड़े प्रयत्न हुए किन्तु वे लगभग असफल ही गए। खाइ ज्यों की त्यों बनी रही। पास-पास रहकर भी पहले ने दूसरे को म्लेच्छ और दूसरे ने पहले को त्राफिर कहना नहीं द्योड़ा।

किन्तु मध्यकालीन कलाओं-चित्र, संगीत और बास्तु-के विकास का अध्ययन करने पर एक आश्चर्य जनक बात सामने आती है। इस्लाम और हिन्दू धर्म का यह संघर्ष धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक धोनों में कितना भी असाध्य क्यों न रहा हो, कला का धोन उसकी विभीषिकाओं से मुक्त है।

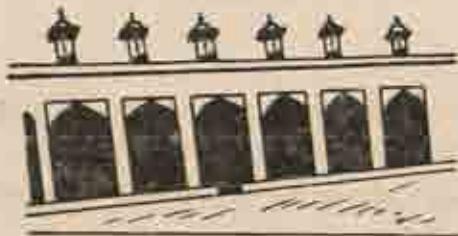
भारतीय कलाओं ने मुसलमानों के साथ आने वाले तत्त्वों को मुक्तहस्त स्वीकार किया और उपयुक्त परिवर्तन करके उन्हें आत्मसात् कर लिया। मुसलमानों की कृतियों में भी, एक दो उदाहरणों को छोड़कर समन्वय की यह प्रवृत्ति निरन्तर देखने को मिलती है। ये एक दो इमारतें भी, जैसे फिरोज तुगलक वी कालान मस्जिद या महमूद गावां का बीवर का मदरसा वास्तु जूली के विकास पर कोई प्रभाव नहीं डालती। छुआळूत की सी वह भावना जो अन्य धोनों में व्याप्त है, कला के धोन में नहीं है। एक और छाण्णे के चित्रों में ईरानी विधान प्रयुक्त हुए दूसरी और मुसलमान शासकों के सरकारों में भारतीय विषयों, यहां तक की भारतीय देवी-देवताओं तक का चित्रण हुआ। संगीत में मिली-जुली राग-रागनियां बनी। समन्वय की इस भावना का सबसे अधिक व्यापक प्रभाव बास्तुकला पर पड़ा। खम्भोंदार महराज तो बने ही, उनमें तोड़ों पर आधारित उद्भवर लगाए गए। छज्जे का प्रयोग हुआ। गुम्बद पर हिन्दू शिखरों के एचकोण और कलश लगाए गए। मस्जिद के गुम्बद में इनके प्रयोग के विरुद्ध न तो मुल्ला ने कुछ कहा न मन्दिर में गुम्बद बनाने से परिवर्त ने ही इन्कार किया। छत्रियों का व्यापक प्रयोग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की इमारतों में हुआ। बास्तव में धीरे-धीरे एक मिथित जैली विकसित हुई जिसमें हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं रहा। यह केवल दो संस्कृतियों का समन्वय ही नहीं था यह सही धर्मों में एक राष्ट्रीय जैली का विकास था जिसके लिए ये कलाएँ मध्यकाल की छहरी हैं। अगर भारत में मुसलमान नहीं थाए होते तो शायद अपभ्रंश का चित्रकार मुगल चित्रकला की उत्कृष्टता तक नहीं पहुँच पाता। न ताजमहल बनता न भोती मस्जिद और न विशाल राजपूत छत्रियों के निर्माण को ही प्रेरणा मिलती। मध्यकाल को हमारी प्राचीन कला परम्पराओं को पुनर्जीवित और पुनर्गठित करने का श्रेय प्राप्त है। हमें नवीन प्रेरणा, नवीन क्षमता और नवीन हृष्टिकोण मध्यकाल ने दिया और किसी भी तरह उसके इस योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता।



पारिभाषिक शब्दावली

(GLOSSARY)

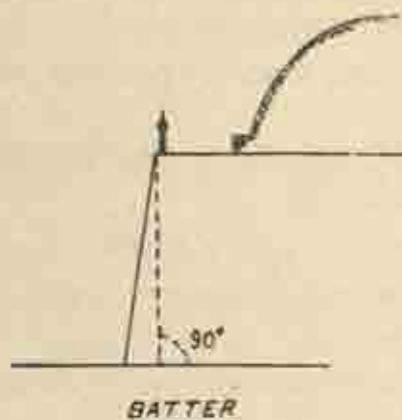
- Aisles** (प्रदक्षिणापथ, स्कन्ध) - मस्जिद के मुख्य कक्ष के पास्वे; मुख्य कक्ष के दोनों ओर के सम्मों या महराबदार भाग।
- Alcove** (आलय) - दीवार में बने महराबदार आलय, अद्वैताकार छतदार विज्याकार आलय।
- Amalaka** (आमलक) - नागर मन्दिर के शिखर का भूषण, चूड़ीदार गोलाकार पत्थर, कलश का घारीदार आधार।
- Animation** (जीवधारियों की अनुकृति) - मनुष्यों या पशु-पक्षियों की अनुकृतियाँ बनाना।
- Arabesque** (अरबीसम) - वृत्ताकार घुमावदार रेखाओं का अरबी कलाकारों का विशिष्ट अलंकरण।
- Arcade:-** महराबों की प्रृष्ठलाला, कमबढ़ महराबों की पंक्ति।



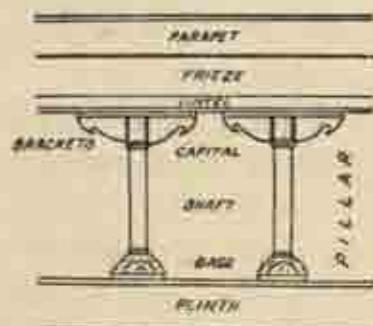
ARCADE

- Arch** (महराब) - रचना की वह विधि जिसमें ढाट के द्वारा हॉटों या पत्थरों से बोझ को लम्बवत् संभाला जाता है ; विशिष्ट मुस्लिम-पद्धति।
- Architect** (स्थापति) - वास्तु का आचार्य।
- Architecture** (वास्तु) - भवन निर्माण शास्त्र ; वास्तु की तीन मूल आवश्यकताएँ होती हैं (क) किसी व्येष को हृष्ट में रखकर निर्माण हो (ख) यह हड़ और टिकाऊ हो, और (ग) यह सुन्दर हो।
- Arcuate** (चापबक, महराबदार) - महराब की पद्धति पर नियमित ; विज्याकार।
- Ast-Sutrakam** (अष्ट सूत्रकम) - भारतीय कारीगर के परम्परागत आठ उपकरण जैसे - सूत्र, लवा, चिकोरण, कल्पी आदि।

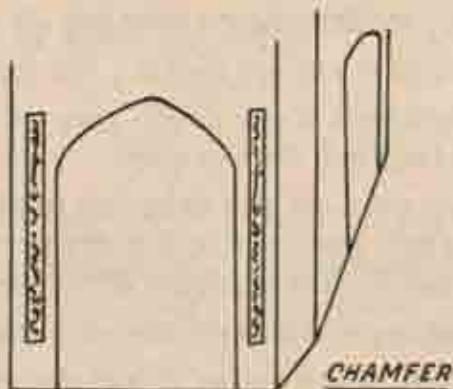
- Azan (आजान)–नमाज पढ़ने के समय की घोषणा ।
- Balcony (गोख्र प्रालिन्द, प्रसादिका)–इमारत के बाहर निकला हुआ तोड़ों पर आधारित कुञ्जा जिस पर वेदिका और अधिकांशतः छत होती है ।
- Baoli (बावड़ी)–सीढ़ियोंदार बड़ा कुआं जिसके नीचे तक जाया जा सकता है; इसमें कक्षों और आलिन्दों का भी विधान होता है ।
- Barrel-Vaulted (डोलाकार)–डोल या हाथी की पीठ की आहुति की महराबदार छत ।
- Basement (आलम्बन)–इमारत का निम्न भाग, जमीन के अन्दर का भाग ।
- Bas-Relief (उल्कीर्ण-शिलापट)–
- Batter (डाल)–इमारत की बाहरी दीवारों में नियमित रूप से दिया हुआ डाल ।



- Bays (उपभाग)–माराघना भवन या दालानों के उपभाग जो अधिकांशतः चार खम्भों पर बनते हैं और जिनको अपनी छत होती है ।
- Beam (शलाका)–क्षेत्रिज या समतल रस्ती हुई लकड़ी या पत्थर की शिला जो बोझ संभालती है ।
- Bracket (तोड़े)–क्षेत्रिज रचना में छड़ने या उद्दम्बर को संभालने के लिए प्रयुक्त विकोणात्मक तस्व ।

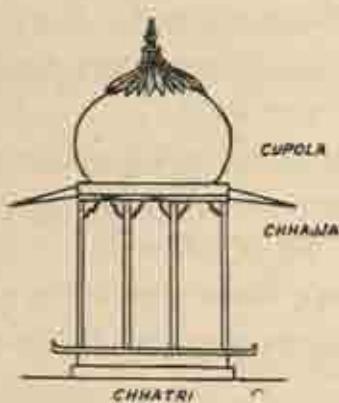


Bulbous	(बल्बकार) - गुम्बद की वह आकृति जो विज्ञलों के बल्ब के समान हो ; ऊंची ग्रीवा (ग्राहार) पर उठा हुआ गुम्बद।
Buttress	(बट्र) - महराव के घंटके को रोकने के लिए या दोकार को व्यतिरिक्त सहारा देने के लिए उसके सामने बनाया जाने वाला त्रिकोणात्मक तत्त्व ; रोक।
Calligraphy	(सुलेख) - प्रशंसी और फारसी का कलात्मक लेखन जो पांडुलिपियों और इमारतों के अलकरण में काम आता था।
Capital	(स्तम्भ-गिरस) - खम्बे का ऊपरी भाग जिस पर उद्भवर रखा जाता है। तोड़े इसके साथ ही लगाए जाते हैं।
Carving	(कटाई) - पत्थर छूने या लकड़ी में कलात्मक कटाई का काम।
Cause-Ways	(बीचिकाएं) - चार-बाग पद्धति में मुख्य इमारत को द्वारों से जोड़ने के लिए बनाई गयी पत्थर की उठी हुई बीचिकाएं।
Ceiling	(छत) - यह समतल गोल या ढोलाकार होती है।
Centeying	(हुला) - महराव और गुम्बद बनाने के लिए बौस बल्ली और मिट्टी की अस्तायी डाट।
Chamfer	(कोने काटना, मिल्ली देना) - किसी वर्गकार इमारत के कोने काटना जिससे वह अठपहलू प्रतीत हो।



Char Bagh	(चार-बाग) - बाग की वह ईरानी पद्धति जिसके अन्तर्गत उसे चार समान भागों में बाँट दिया जाता है, मुख्य इमारत को इसके ठीक बीचों-बीच में बनाया जाता है और पत्थर की बीचिकाओं और नहरों द्वारा द्वारों से जोड़ा जाता है।
Chevron	(सिधाड़ा) - सीधी रेखाओं का कोणगुदार लैंतिज अलंकरण।
Chhajja	(छज्जा) - समतल द्वारों या महरावों के ऊपर छूप और वर्षा से रक्षा करने के लिए इमारत का आगे निकला हुआ भाग ; इसे तोड़ों पर प्राप्ति किया जाता है।

Chhatri (छत्री) — चर्चाकार घट्टहलू, अठपहलू या गोल, चार छँड़ीय या आठ खम्भों का गुम्बददार मण्डप ; मुगल वास्तुकला में इमारत के ऊपर ऊर्ध्वरेखा पर इनका व्यापक प्रयोग हुआ है।



- Cloisters** (दालान) — खम्भोंदार कम से कम एक तरफ खुले जम्बे आलिन्द या बरामदे।
- Column** (खम्भा) — इसका मध्य भाग अधिकांश : गोल होता है।
- Coping** (उत्तरणीय) — दीवार के ऊपर इंट और पत्थर का शिरस ; यह कुछ आगे निकला होता है जिससे पासी दीवार पर न बहे।
- Corbelling** (कड़िलिका करण) — छत पाटने की वह विधि जिसमें पत्थर की शिलाएँ एक से ऊपर एक कुछ आगे बढ़ाकर रखी जाती हैं और इस प्रकार खुलाब कम होता जाता है और अन्त में एक शिला ढारा बन्द कर दिया जाता है।
- Corridor** (आलिन्द) — इमारत के अन्दर एक चौड़ा पथ या बीचिका जो दो कमरों को जोड़ता हो।
- Cupola** (लघु गुम्बद) — गोलाकार गुम्बद जो किसी गौण रचना में प्रयुक्त किया गया हो।
- Curved Roof** (मुही हुई छत) — दीन में मुही हुई नुकीली किनारेदार छत जैसे बैंस की भोजड़ी में होती है।
- Cusped** (दांतेदार) —
- Dado** (शिलापट्ट) — दीवार का नीचे का भाग ; फँड़ी में ३.४ फीट ऊँचाई तक के दीवार के उपभाग जो ग्रन्तकरण के काम आते हैं।
- Dome** (गुम्बद) नीचे के हाल की त्रिज्याकार विधि द्वारा निर्मित गोलाकार छत ; इमारत के ऊपर का गोल तरूँ ; मुगल वास्तुकला में इसके ऊपर पद्मकोश और कलश होते हैं।
- Door Jamb** (दार शाला) —

Double Dome (दुहेरा गुम्बद)–जिसको निचली सतह कमरे की छत हो और बाहरी सतह स्वयं उसे आवरण देती हो ; अन्दर से खोखला गुम्बद ।

Drum (गुम्बद का आधार, ग्रोवा)–

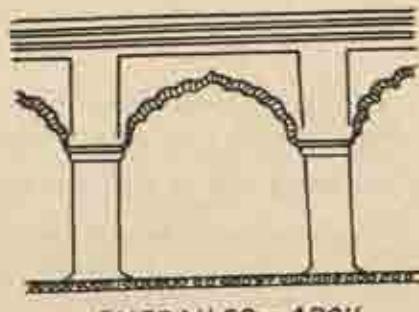


Elevation (उठान)–इमारत की समन्वित ऊँचाई ।

Enclosing wall (प्राकार)–बाग दुर्ग या किसी खुले स्थान के चारों ओर बनी रक्षात्मक दीवार ।

Engraving (कलात्मक मुद्राई)–

Engrailed Arch (दालेदार महराब)–



Facade (मुख्यपट)–इमारत का सामने का इकाई भाग ।

Finial (स्तूपी, शिरस, कलम)–शिखर और गुम्बद के ऊपर प्रयुक्त प्रतीकात्मक अलंकरण ; निर्यूह का ऊपरी भाग ।

Floral (फूल-पत्तीदार)–

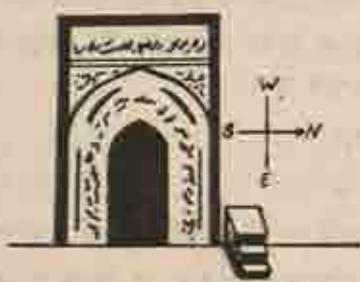
Floor (तल, फर्ज)–

Fluting घारीदार सम्में या और किसी तस्व में गहराईदार कमबढ़ घारियाँ ।

Fresco (लेप चित्र)–दीवार पर प्रयुक्त वह चित्रकारी जो ताजी पृष्ठभूमि पर की जाती है ।

Frieze (चित्रावल्लरी)–महराबों या द्वारों के ऊपर का धौतिज भाग जो अलंकरण के काम आता है ।

Fringe	(माला) —
Geometrical	(रेखाकृत) रेखागणित के सिद्धान्तों के अनुसार चिकोणों, आयतों, वर्गों और अन्य रूपों से मिलकर बना हुआ डिजाइन, इसमें सरल और बुद्धिकार दोनों प्रकार की रेखाएं प्रयुक्त होती हैं।
Gilding	(सुनहरी प्रभासव अलंकरण) —
Glass-Mosaic	चूने में शीशों का जड़ाऊ काम।
Glazed Tiles	भट्टी में पकी चमकदार रंगीन टाइलें।
Hammam	(हम्माम) — मुसल्लों के शीशम-महल जिसमें बहते हुए पानी की व्यवस्था होती थी।
Hashiyah	(हाशिया) — लघुजित्र या शिला-पट्ट के चारों ओर के अलंकृत किनारे।
Incised	(उक्तित) — पत्थर चूने या किसी अन्य रंगीन विषि में महीन खुदाई का काम।
Inlay	(जड़ाऊ काम) — पत्थर में रंगीन पत्थर के टुकड़े भरकर डिजाइन बनाने की पद्धति।
Intonaco	(पृष्ठभूमि) — चित्रकारी के लिये चूने की पृष्ठभूमि।
Iwan	(ईवान) — मुख्यट के मध्य में दिया हुआ विशाल महराब जिसमें प्रवेश द्वार होता है।
Kalasa	(कलश) — कुम्भ या घट जो गुम्बद के ऊपर पद्मकोण के साथ अलंकरण के काम आता है।
Kiosk	(छत्री) —
Lintel	(उदम्बर, उत्तरंग) — दो खम्भों या भित्तियों पर आधारित समतल छिला जो ऊपर का बोझ संभालती है। यह भारतीय शैलिय पद्धति का प्रमुख अंग है।
Lotus Petals	(पद्मकोण) — गुम्बद के शीर्ष पर चारों ओर कमल की पद्मुडियों का आवरण।
Mausoleum	(मकबरा) — स्मृति स्वरूप निमित भव्य इमारत जिसमें उस व्यक्ति की कब्र होती है। इसमें उसकी एक या दो कुञ्जिम कब्रें और भी हो सकती हैं।
Medallion	(परिचक) — महराब या चित्रबल्लरी के ऊपर आलकारिक कमल या चक्र।
Mihrab	(महराब) — मसजिद में मकान की दिशा सूचित करने के लिये केन्द्र में बनाया गया महराब; किवला।



MIHRAB AND MINBAR

Minbar (मिन्बर) — महराब के पास बनाई गई सीढ़ियाँ जिन पर खड़ा होकर मुअज्जिन नमाज़ पढ़ाता है।

Minaret (मीनार) — स्वतन्त्र रूप से खड़ी कई मंजिल की अद्वालिका जो मुगल वास्तुकला में शोभा के लिये प्रयुक्त हुई है। इसमें सबसे ऊपर छत्री बनाई जाती है।



MINARET

Monument (स्मारक) — ऐतिहासिक इमारत जो स्मारक स्वरूप हो।

Mosaic (जड़ाऊ कला) — विभिन्न रंग के पत्थरों के प्रयोग से डिजाइन बनाने की विधि।

Motif (रूपक) — डिजाइन का रूप या तस्वीर।

Mural (कुह्य) — दीवार पर किया गया अलंकरण या दीवार से सम्बन्धित और कोई तस्वीर।

Nave (मुख्य कक्ष) — मस्जिद का मध्यभाग या मुख्य कक्ष जिसमें महराब और मिन्बर होते हैं।

Niche (आलय) — दीवार में बने महराबदार आलय।

Nook shaft (कोण स्तम्भ) — इमारत के कोनों पर बने सम्बद्ध कोण-स्तम्भ/स्तम्भ।

Octagonal (अष्टपहलू) — आठ भुजाओं का।

O-gee कोर्नि मुख जैसा तोकिदार महराब।

Oriel Window (प्रसादिका) — दीवार में बाहर निकली हुई तोड़ों पर आधारित खिड़की; दो खम्भों और दीवार पर आधारित इसमें छत भी होती है।

Painting (चित्रकला या चित्रकारी) —

Parapet (शीर्ष) — छत के ऊपर का भाग या रोक।

Pavement (फर्श) —

Pavilion (मण्डप) — इमारत के ऊपर या सामने खुला हुआ, बहुधा खम्भोदार, मण्डप।

Pedestal (प्रांथार या चौकी) —

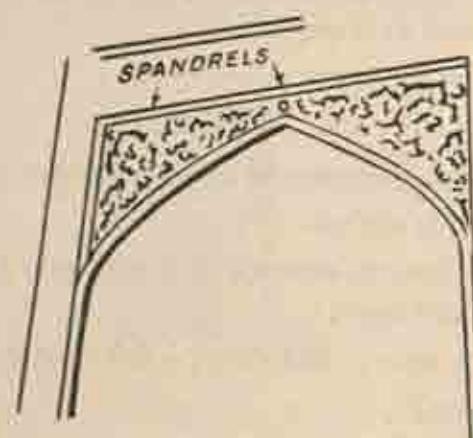
Pendentive समतल शिला जो कड़लिकाकरण में काम आती है; कोनों पर प्रयुक्त आगे निकली हुई समतल शिला।

Pier खम्भे के स्थान पर बोझ संभालने के लिये प्रयुक्त बर्गाकार भित्ति।

Pigments (रंग-सामग्री) —

Pilaster (अर्ध-स्तम्भ) — दीवार से सम्बद्ध खम्भा।

Pillar	(सम्पाद) — जो समतल रचना में काम माता है, यह वर्गीकार पट्टपहल, अठपहल या गोल हो सकता है।
Pinnacle	(निर्युह) — लघु मीनार का ऊपरी भाग जो चुले हुए फूल की तरह बनाया जाता था; निर्युहों का प्रयोग शर्णकरण के लिये होता था।
Plan	(वोजना) — रचना विवरण।
Plinth	(चौकी) — चबूतरा जिस पर इमारत बनाई जाती है।
Porch	(मुख मण्डप) — इमारत के प्रवेश द्वार से सम्बद्ध मण्डप।
Portal	(मुख्य महराव) — इमारत के मध्य में मुख्य महराव जिसमें प्रवेशद्वार होता है; इवान।
Radiating Arch	(विज्याकार महराव) —
Railing Pillar	(वेदिका स्तम्भ) —
Rampart	दुर्ग की रक्खात्मक चहारदीवारी जिस पर आने-जाने के लिये चौड़ा रास्ता हो।
Relief	(मुक्तक) — खाली सतह के एकाकीपन को दूर करने के लिये किया गया कोई भी शर्णकरण।
Rhythm	(छन्दस) — रचना के विभिन्न भागों का तालमेल।
Sanctuary	(आराधना भवन) —
Scroll	(पतलता) —
Sculptur	(शिल्प) —
Seraglio	(रमिवास, अन्तर्गुर) —
Side	(पार्श्व) — उपभाग।
Sides	(आखाएँ) — उपभाग।
Soffit	(विज्याकार छत) — अधीं गोलाकार या गोलाकार महरावदार छत।
Spandrel	— महराव के ऊपर दोनों कोनों पर विकोणात्मक स्थान।



Squinch (कोण महराब) — कक्ष के कोनों के ऊपरी भाग में प्रयुक्त महराब जिससे वर्गाकार कक्ष को प्रठपहरू योजना में परिवर्तित किया जाता है।



- Stairs** (सोपान) — सीढ़ियाँ।
- Stalactite** (निच्यावासम) — लघु महराबों की शृंखला जिसके द्वारा गुम्बद या ग्रन्थ किसी भाग का बोझ संभाला जाता है; विशुद्ध मुस्लिम अलंकरण।
- Strut** (सर्पिकार तोड़े) —
- Stucco** (चूने का अलंकरण) —
- Stylized** (चंबो करित) — निरस्तर प्रयोग से किसी स्थापक या डिजाइन का प्रत्यक्षित स्वरूप।
- Superstructure** (ऊधर रचना) — इमारत के ऊपरी भाग में गुम्बद, छत्रियों, निर्मुहों प्राचि का संयोजन; नभरेखा का सुन्दर विन्यास।
- Symbol** (लक्षण, रूप प्रतीक) —
- Tapering** (गंजाराकार) — मीनार या अट्टालिका जो ऊचाई के साथ-साथ छोटी होती जाती है, जैसे कुतुबमीनार।
- Temple** (प्रासाद) —
- Terrace** (छत) — किसी भी मजिल पर लुला हुआ भाग।
- Terra cotta** (मृणमय) —
- Thatch** (छाद्य) — बांस और पूस की छाजन।
- Tomb** (मकबरा) —
- Tower** (अट्टालिका) — कई मजिल की इमारत से सम्बद्ध मोनार।

Trabeate (थेटिज, समतल) — रचना की वह पद्धति जिसमें सभी, तोड़ों और उद्धवर द्वारा छतें बनाई जाती हैं।

Turrets (लघु मीनारें) — अलंकरण के लिये प्रयुक्त पतली पतली कमनोय मीनारें जो इमारत से सम्बद्ध बनाई जाती हैं और ऊबंरचता में जिनके ऊपर निर्धूह होते हैं।

Vase-and-Foliage (घट पल्लव) —

Verandah (आलिन्ड) — कक्ष के बाहर या सामने बना लम्बा बरामदा जो कम से कम एक तरफ से खुला हो।

Vestibule (अन्तराल मण्डप) — मुख्य हाल से पहले का कक्ष।

Window (वातावरन) — खिड़की।

Wing (स्कन्ध) — किसी इमारत के मुख्य भाग के दोनों ओर के भाग।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची (BIBLIOGRAPHY)

1. *Abul Fazl*— 'Ain-i-Akbari' Vol. I (Tr. H. Blochmann) (Calcutta, 1874).
2. *Agarwal, V. S.*— 'Indian Art' (Varanasi, 1965).
3. *Archer, W. G.*— 'Indian Painting' (London, 1958).
4. *Bandhopadhyaya, Shripada*— 'The Origin of Raga' (Delhi, 1946).
5. *Brown, Percy*— 'Indian Architecture' (Buddhist and Hindu Period).
6. *Brown, Percy*— 'Indian Architecture' (Islamic Period).
7. *Brown, Percy*— 'Indian Painting' (Bombay, 1927).
8. *Brown, Percy*— 'Indian Painting Under the Mughals' (Oxford, 1924).
9. *Burgess, James*— 'Muhammedan Architecture of Gujarat'
A.S.I. New Imperial Series, Vol. XXIII.
10. *Burgess, James*— 'Muhammedan Architecture of Ahmedabad'
Parts I-II, A.S.I. New Imperial Series Vols. XXIV, XXXIII.
11. *Coomaraswamy, A. K.*— 'History of Indian and Indonesian Art' (Dover ed. 1965).
12. *Coomaraswamy, A. K.*— 'Rajput Painting' (London, 1916).
13. *Cousens H.*— 'Bijapur and its Architectural Remains' (Bombay, 1916).
14. *Crump, L. M.*— 'The Lady of the Lotus' (Oxford, 1926).
15. *Dey, C. R.*— 'South Indian Music'.
16. *Ettinghausen, R.*— 'Paintings of the Sultans and Emperors of India'
(Lalit Kala Academy).
17. *Fergusson, James*— 'History of Indian and Eastern Architecture (London, 1876).
18. *Führer and Smith, E.*— 'Sharqi Architecture of Jaunpur' A.S.I. (1889).
19. *Gray, Basil*— 'Rajput Painting' (London, 1988).
20. *Gray, Basil*— 'Persian Painting' (London, 1961).
21. *Gray, Basil and Godard, André*— 'Iran' (Unesco World Art Series).
22. *Havell, E. B.*— 'Indian Sculpture and Painting' (London, 1908).
23. *Havell, E. B.*— 'The Ancient and Medieval Architecture of India'
(London, 1915).
24. *Havell, E. B.*— 'The Idioms of Indian Art' (London, 1911).
25. *Havell, E. B.*— 'Indian Architecture: Its Psychology Structure and History'
(London, 1913).

26. Kuhnel, E. and Goetz, H.— 'Indian Book Painting' (London, 1926).
27. Khan, A. A. and Stapleton, H. E.— 'Memoirs of Gaur and Pandua' (Calcutta).
28. Kramrisch, Stella— 'The Art of India Through the Ages' (London, 1954).
29. Mehta, N. C.— 'Studies in Indian Painting' (Bombay, 1928).
30. Mirza, M. W.— 'The Life and Works of Amir Khusrau' (Calcutta, 1935).
31. Motichandra— 'Mughal Painting' (London, 1948).
32. Nath, R.— 'Colour Decoration in Mughal Architecture' (Bombay, 1970).
33. Nur Bakhsh— 'The Agra Fort and its Buildings' A.S.I. Annual Report 1903-4
34. गोरीशंकर हीराचन्द्र शोभा— 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (इलाहाबाद, १९५१)।
35. Page, J. A.— 'A Historical Memoir on the Qutub Delhi' A. S. I. Memoir No. 22.
36. Pope, A. U.— 'An Introduction to Persian Art' (London, 1930).
37. Popley, H. A.— 'The Music of India' (1950).
38. Pramod Chandra— 'Notes on Mandu Kalpasutra' (Marg, Vol. XII No. 3 (June, 1959).
39. रामकृष्णदाता— 'भारत की चित्रकला'।
40. Ray Krishnadasa— 'Mughal Miniatures' (Lalit Kala Academy).
41. Ray Krishnadasa— 'An Illustrated Avadhi Ms. of Laur-Chanda in the Bharat Kala Bhawan Banaras' (Lalit Kala Nos. 1-2 April 1955-March, 1956).
42. Ravenshaw, J. H.— 'Gaur : Its Ruins and Inscriptions' (London, 1878).
43. Rice-D. T.— 'Islamic Art' (London, 1965).
44. Rowland, Benjamin— 'The Art and Architecture of India' (London, 1953).
45. Sanderson, G.— 'Shahjahan's Fort Delhi' A. S. I. Annual Report 1911-12.
46. के. वासुदेव शास्त्री— 'संगीत शास्त्र' (१९५८).
47. Shah, U.P.— 'Studies in Jaina Art' (Banaras, 1955).
48. Shukla, D. N.— 'Vastu Sastra' Vol. I (Lucknow, 1960).
49. Shukla, D. N.— 'Vastu Sastra' Vol. II (Iconography and Painting) (Lucknow, 1958).
50. Smith, E. W.— 'Akbar's Tomb at Sikandarabad' A. S. I. New Imperial Series Vol XXXV.
51. Smith, E. W.— 'The Moghul Architecture of Fatehpur Sikri' Parts I-IV. A. S. I. New Imperial Series Vol XVIII.
52. Stuart, C. M. Villiers— 'Gardens of the Great Mughals' (London, 1913).
53. Tagore, S. M.— 'The Seven Principal Musical Notes of the Hindus'
54. Werner, A.— 'Indian Miniatures' (New York, 1950).
55. Wilkinson, J. V. S.— 'Mughal Painting' (London, 1948).
56. Wilber, D. N.— 'Persian Gardens and Garden Pavilions' (Tokyo, 1962).
57. Yazdani, G.— 'Mandu' The City of Joy (Oxford, 1929).
58. Zimmer, Heinrich— 'The Art of Indian Asia' (New York, 1955).

चित्र-सूची (List of Illustrations)

१. खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४८८-१६०)।
२. गुजरात के सरस्वती पट „ (अपभ्रंश, १५वीं शताब्दी)।
३. (अ) लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)।
४. (ब) „ „ „
५. लौर चन्दा का चित्र (अपभ्रंश, १५४०)।
६. माण्डू के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४३१)।
७. माण्डू के न्यामतनामा का चित्र (ईरानी प्रभाव के साथ अपभ्रंश, १४६६-१५०?)।
८. „ „ „
९. माण्डू के बोस्ती के चित्र (ईरानी प्रभाव के साथ अपभ्रंश, १५०१-१२)।
१०. केशव की रसिक प्रिया की एक चित्रित प्रति के चित्र (राजस्थानी, मेवाड़ गोली १६५०)।
११. „ „ „ (राजस्थानी वृंदी गोली १७वीं सदी)।
१२. बालगोपाल स्तुति (अपभ्रंश, मध्य १५वीं शताब्दी)।
१३. चोर पंचाशिका (राजस्थानी, १५७०-८०)।
१४. गोल गोविन्द (राजस्थानी, १५६०-१६००)।
१५. हमजानामा का चित्र (मुगल, १५६३-८८)।
१६. रेमझानामा (मुगल, १६वीं शताब्दी का अन्त)।
१७. वावरनामा (मुगल, १५६८)।
१८. श्रवुलहसन द्वारा चित्रित 'जहाँगीर का दरवार' (मुगल, १६१५-१६)।
१९. „ „ 'चिनार का पेड़' (मुगल, १६१२-२७)।
२०. उस्ताद मन्सूर द्वारा चित्रित 'बाज' (मुगल, १६१०-२०)।
२१. चित्रितर द्वारा चित्रित 'शाह दीलत' (मुगल, १६१०-२७)।
२२. चित्रितर द्वारा चित्रित 'जहाँगीर के व्यक्ति चित्र की अनुकूलति' (मुगल)।
२३. जहाँगीर के मुराबका-मुलशन के एक चित्र का हासिया (मुगल, १६१५-२७)।
२४. 'शाहजहाँ का दरवार' (मुगल, १६४५)।
२५. रामिनी मेघ मलार (राजस्थानी, मेवाड़ गोली, १६२८)।
२६. 'पढ़ता हुआ युवक' (दलियाई बीजापुर गोली, १६१०)।
२७. 'रामिनी मधु मावदी' (दलियाई गोल कुण्डा गोली, १३वीं शताब्दी का अन्त)।
२८. कन्दरीय महादेव का मन्दिर खजुराहो (१०वीं शताब्दी)।
२९. कुतुब मीनार देहली (११९८-१२१२)।
३०. कुब्बत-उल मस्जिद दिल्ली का काल्पनिक मूल रूप (११९७)।
३१. अल्लाह दरवाजा दिल्ली (१३०५)।

३१. व्यासुदोन तुगलक का मकबरा, दिल्ली (१३२५)।
३२. एक बग्गिकार मकबरा, दिल्ली (१५वीं शताब्दी)।
३३. हसन खां सूर का मकबरा सासाराम (१५४०-४५)।
३४. बेगमपुरी मसजिद दिल्ली (१३८७)।
३५. कालान मसजिद दिल्ली (१३७०)।
३६. खिडकी मसजिद दिल्ली (१३७५)।
३७. किला-ए-कुहना मसजिद दिल्ली (१५८२)।
३८. शेरशाह सूर का मकबरा सासाराम (१५८५)।
३९. जामी मसजिद अहमदाबाद (१४२३)।
४०. जामी मसजिद अहमदाबाद का आन्तरिक भाग (१४२३)।
४१. जामी मसजिद चम्पानेर (१५००)।
४२. जामी मसजिद चम्पानेर का आन्तरिक भाग (१५००)।
४३. अहमदाबाद की सिडी सैखद की मसजिद की जाली (१५१५)।
४४. अहमदाबाद की सारंगपुर मसजिद के उत्कीर्ण फलक (१५३०)।
४५. हिण्डोला महल माण्डू (१४२५)।
४६. होमांग शाह का मकबरा माण्डू (१४४३)।
४७. जामी मसजिद माण्डू (१४४०)।
४८. माण्डू की जामी मसजिद का भीतरी भाग (१४४०)।
४९. अशफी महल माण्डू (१४३६-३६)।
५०. जहाज महल माण्डू (१४६६-१५००)।
५१. जामी मसजिद गुलबग्हा (१३६७)।
५२. चार मीनार हैदराबाद (१५११)।
५३. इबाहीम रीजा बीजापुर (१६१५)।
५४. गोल गुम्बज बीजापुर (१६५०)।
५५. गोल गुम्बज बीजापुर का आन्तरिक भाग (१६५०)।
५६. हमायूं का मकबरा दिल्ली (१५६४-७०)।
५७. मुहम्मद गीस का मकबरा खालियर (लगभग १५६५)।
५८. आगरे का किला (१५६५-७२)।
५९. आगरे के किले का दिल्ली द्वार (१५६८-८८)।
६०. जहांगीरी महल का पश्चिमी मुख (१५६५-७२)।
६१. जहांगीरी महल का भीतरी आगंन।
६२. उत्तरी हाल के सप्तकार तोड़े।
६३. मधुर मण्डप के मधुराकृति के तोड़े।
६४. फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा (१६०१)।
६५. फतेहपुर सीकरी की जामी मसजिद का आराघता भवन (१५७१)।
६६. सलीम चिश्ती का मकबरा, फतेहपुर सीकरी (१५८१)।
६७. सलीम चिश्ती के मकबरे का जालीदार बरामदा।
६८. तथाकथित जोधपाई का महल, फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)।
६९. बीरबल का महल फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)।

७०. दीवान-ए-खास महल कत्तेहपुर सौकरी (१५७१-८४)।
 ७१. दीवान-ए-खास का एक स्तम्भ।
 ७२. अकबर के मकबरे का मुख्य द्वार मिकन्दरा आगरा (१६०५-१२)।
 ७३. मुख्य द्वार पर जडाऊ अलंकरण।
 ७४. अकबर के मकबरे का पश्चिमी आलंकारिक द्वार।
 ७५. मुख्य मकबरा।
 ७६. अस्तराल मण्डप में चित्र अलंकरण।
 ७७. ऊपरी मंजिलों में छत्रियों और महरावों की साजसज्जा।
 ७८. अकबर के मकबरे पर काल्पनिक गृष्मद।
 ७९. ऐतमात्कुदौला का मकबरा आगरा (१६२२-२८)।
 ८०. " " में जडाऊ अलंकरण।
 ८१. आगरे के किले का खास महल (१६२८-३६)।
 ८२. " " का दीवान-ए-खास (१६३५)।
 ८३. " " की नगीना मसजिद (१६२८-३८)।
 ८४. " " का दीवाने-ए-प्राम (१६२८-३६)।
 ८५. " " की मोती मसजिद (१६४८-५४)।
 ८६. दिल्ली के लालकिले के रामहल का कमल-सर (१६३८-४७)।
 ८७. " " की मोती मसजिद (१६५८)।
 ८८. दिल्ली की जामी मसजिद (१६५०)।
 ८९. ताजमहल का मुख्य द्वार (१६३१-४८)।
 ९०. ताजमहल - पूर्वभूमि।
 ९१. ताजमहल - एक दृश्य।
 ९२. ताजमहल - यमुना से।
 ९३. ताजमहल - मुख्य कक्ष के उत्कीर्ण जडाऊ शिलापट्ट।
 ९४. ताजमहल - कबीर के आठों ओर जडाऊ पदों।
 ९५. मानमन्दिर खालियर (१५१०-१६)।
 ९६. मानमन्दिर-भीतरी आंगन में रंगीन टाइलों का अलंकरण।
-

चित्रांकन (Drawings)

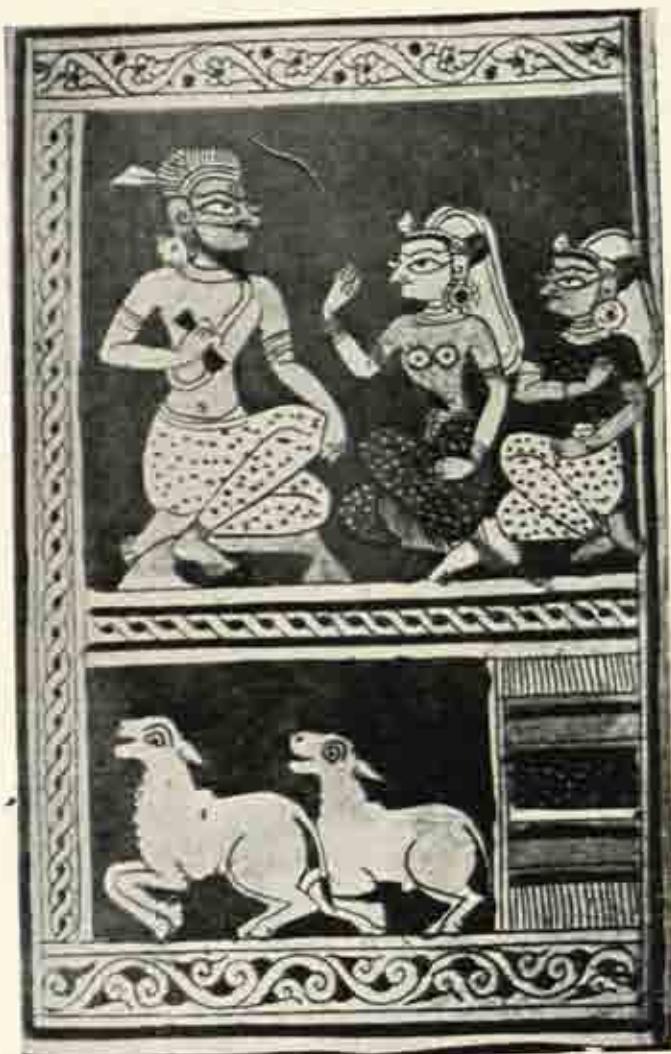
१. चार बाग योजना ।
 २. आगरे के किले के दिल्ली द्वार का अूह-मार्ग ।
 ३. जामी मसजिद फतेहपुर सीकरी की योजना ।
 ४. गुजरात में प्रयुक्त लकड़ी का केन्द्रीय सम्भास ।
 ५. अकबर के मकबरे आगरे की योजना ।
 ६. आगरे की किले की मोती मसजिद की योजना ।
 ७. ताजमहल का योजना-विनायात ।
 ८. ताजमहल की भीतरी योजना ।
 ९. हेन्कूट मन्दिर की योजना ।
-



१. खस्मात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपर्याप्ति, १४५१ ई०)



२. गुजरात के सरस्वती पट एक चित्र (अपभ्रंश, १५वीं शताब्दी)



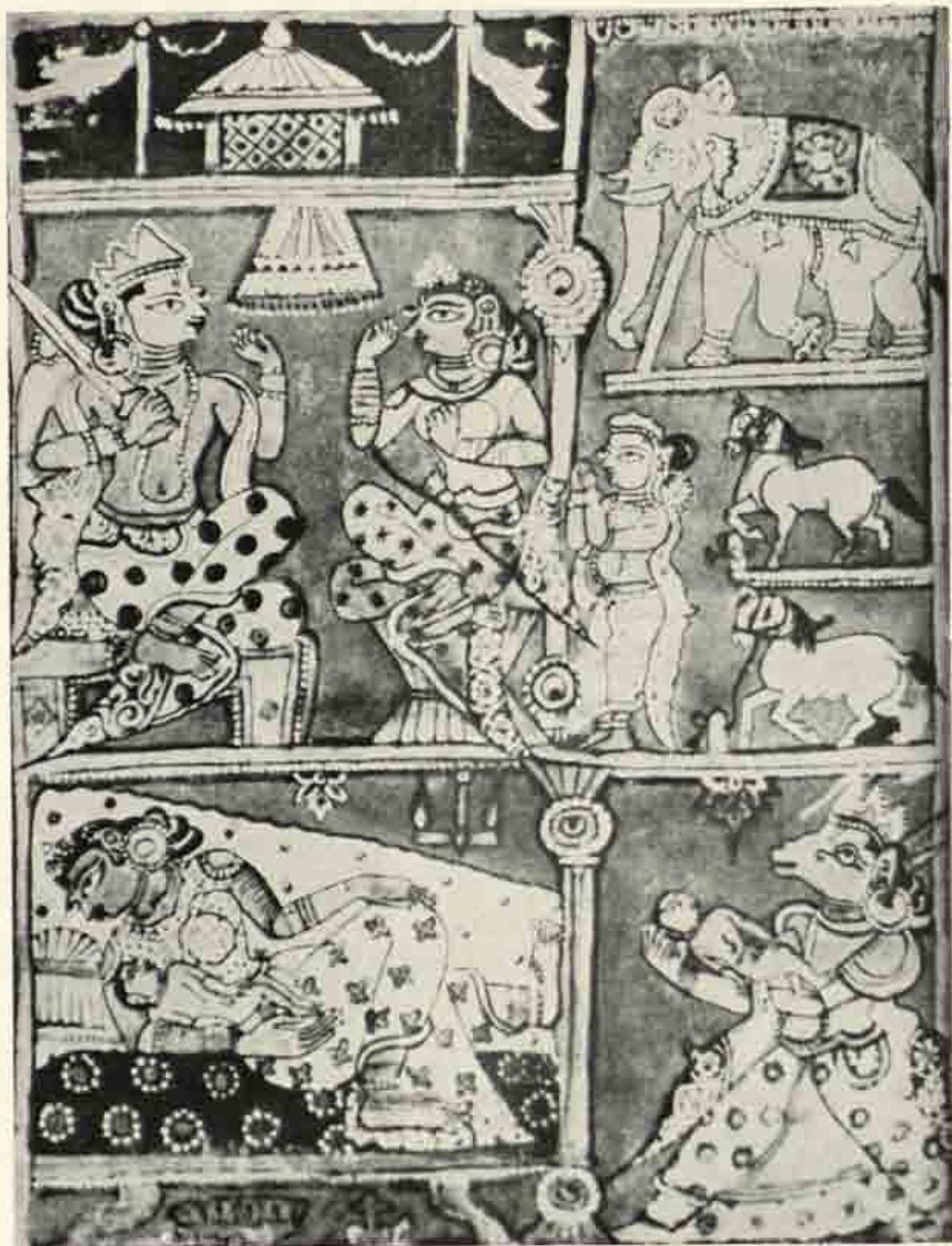
इम. लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)



इब. लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)



४. लौर चन्दा का त्रिव (अपन्ना, १५४०)



५. मारुद् के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपन्नंश, १४३६)

وَيْكِي دَر زِيرَوَيْ كَيْ لِلَا وَمِيَان آز قَهْمَه
 بُرْكَتْنَد وَكَنَارَهَا مُخْ كَيْ مَكَنَد وَدَر مِيَان
 كُوشْت دِيْكَر بِرْزِر زِيرَه مِسْتَه بَيْ هَنَلْ نَمَلْ هَلَه

فِلْقِلْ آبِ لِيمُوا دَرَك



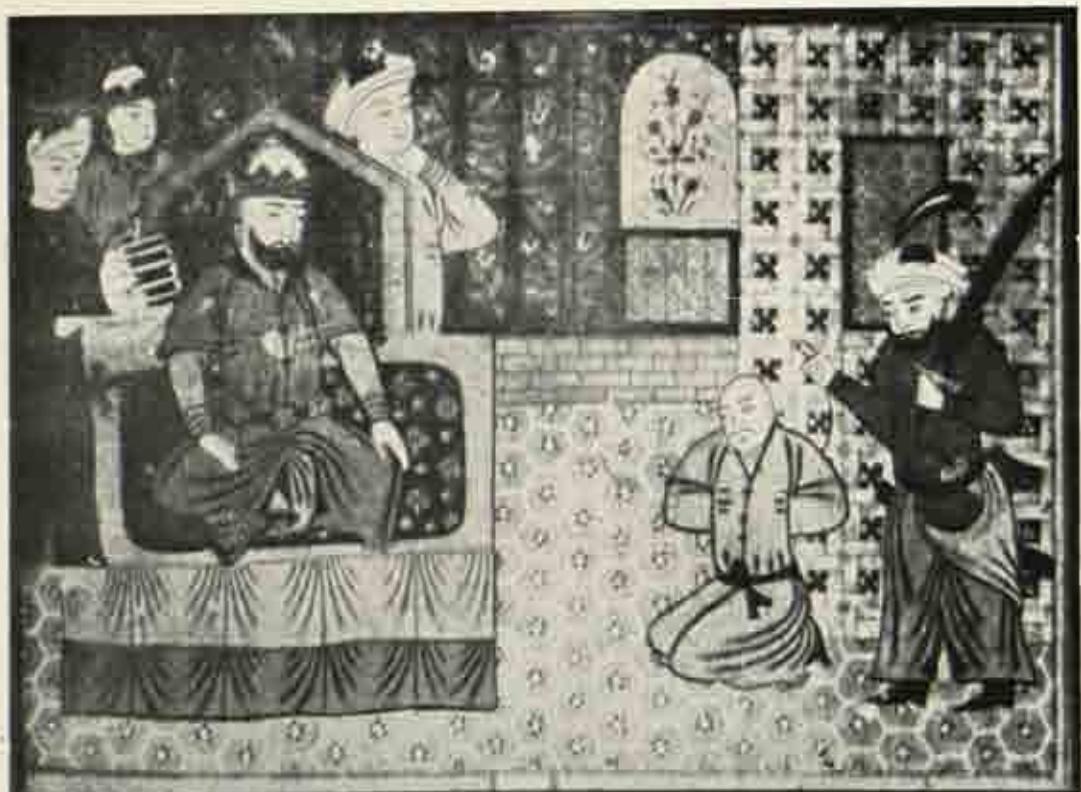
پِنَدَارَه سُونُف بِيْلَنَدَارَه وَأَنْهَارَه قَهْمَه شَكِلْكَنَد وَرَه
 رَشْكَلْ سِنَكَهارَه رَاثْ كَنَد وَخُوبْ حَوْجُجْ

द. माण्डू के न्यामतनामा का चित्र (हिरानी प्रभाव के साथ अपनेंगा, १४६६-१५०१)

جوشبوی



७. سالہو کے نیامنامہ کا چتر (ایرانی پرہاد کے ساتھ اپندر ۱۸۶۶ء ۱۵۰۱)



८. अ.व. माण्डू के चौस्ताने के चित्र (हिरानी प्रभाव के साथ अपनेंगा, १५०१-१२)

विद्वके दुरदानं जदेषा तालवत्तु वालवाणी को विद्वन्नेत्रवत्तु
 गालुण्डाण्डनलालहाट्टपद्माल्ल भासी द्युमन्द्र वालवाणी
 रुदालवा रीञ्जु रुदालवना नदुरदुलप्रसाठप्रसाठ
 द्विरुजमडलमधुरतडलतमत्रधनीमनुजातोवनी राज्याकाकाशु
 दरमन्त॥



६. केशव की रसिक प्रिया को एक चित्रित प्रति के चित्र (राजस्थानी, मेवाड़ शैली १६५०)

॥ तद्यथीकामनकास्त्रदग्धना ॥ भूतवीया ॥ न विद्युतीकोपरेकोपर्दीनएकोपर्दरीसंविम
उत्तमीत्तरमेनश्रानवी ॥ लोमसीपुलोमानित्तिलुमीत्तिलोकमानमेनकमानमेनकान
मानतीर्थानिएकाननात्तित्तमहीमगारजात्तिजानिहनुमाणोपेयाङ्गंयहिराम् वी॥वा
नकमीबासीप्राहिनावमीत्तवामीप्राहिकमोक्षप्रतिमेनकज्ञात्तिजानवी॥हृ॥ ॥ अथी॥



१०. केशव की रसिक प्रिया को एक चित्रित प्रति के चित्र (राजस्थानी बूँदी शैली १७वीं सदी)



११. बालगोपत शृंति (अपन्ना, मध्य १५वीं शताब्दी)

२३. बोर पत्रालय (ग्रन्थालय, १९५०-५१)

लग्नप्रिटेला ४२

विष्टुतः

समाहती

जामिनि ३

महाराष्ट्रासाराक

गद्यालितासारामत्यसाराम

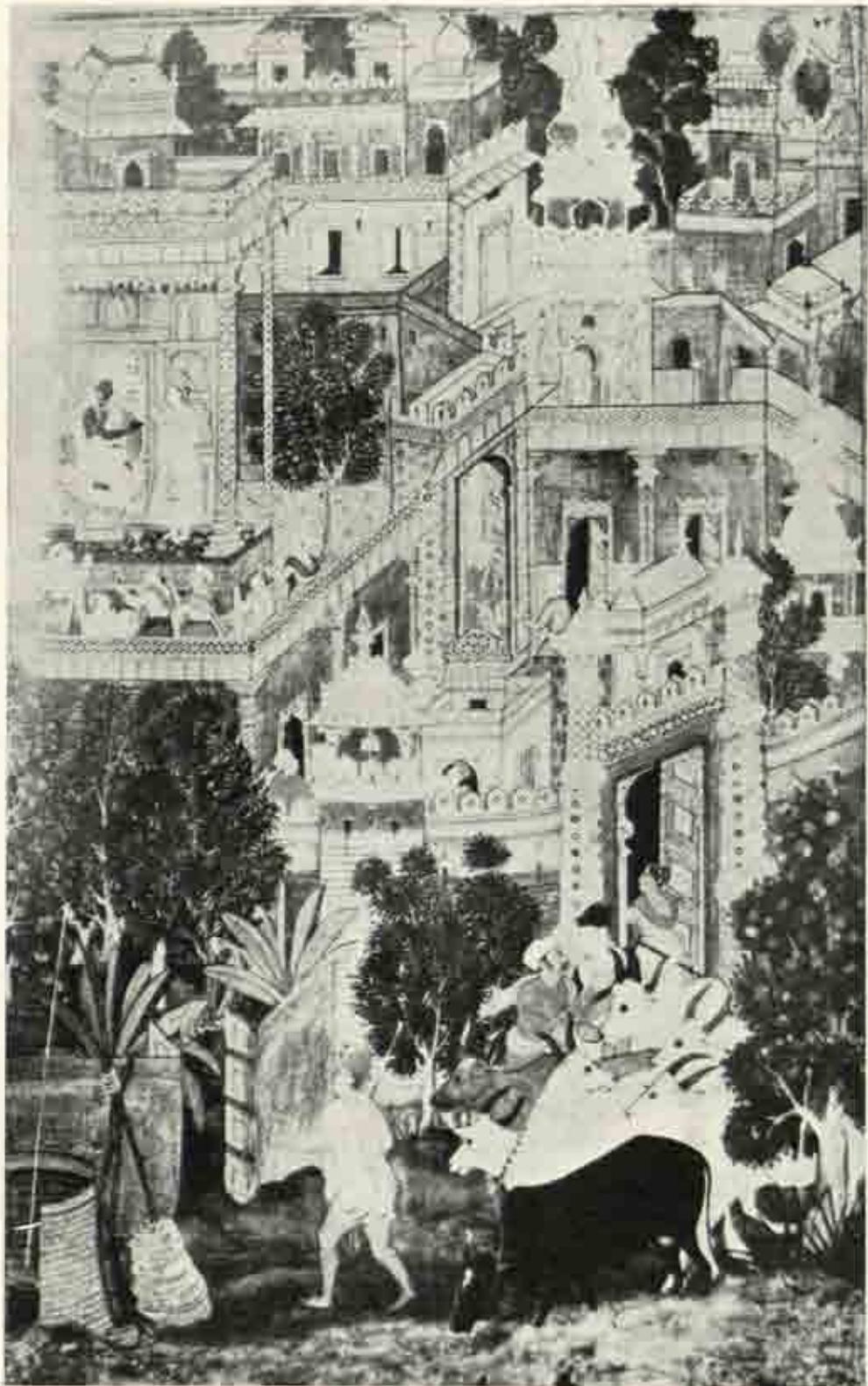
श्वस्यागता माधवमंतरेण मरवी मियं वीक्षा विषादमूर्का । वसनं तरागे । मारमसमो विन विरविन वे
 विजाकमानारमितंकया पिजनाहृतदृष्टवटेतदादा ॥२ ॥ चागलितकुमुखमदलविद्वलितकेत्वा ॥



१३. गीत गोविन्द (राजस्थानी, १५४०-१६००)



१४. हम्मानामा का चित्र (मुगल, १५६७-८२)



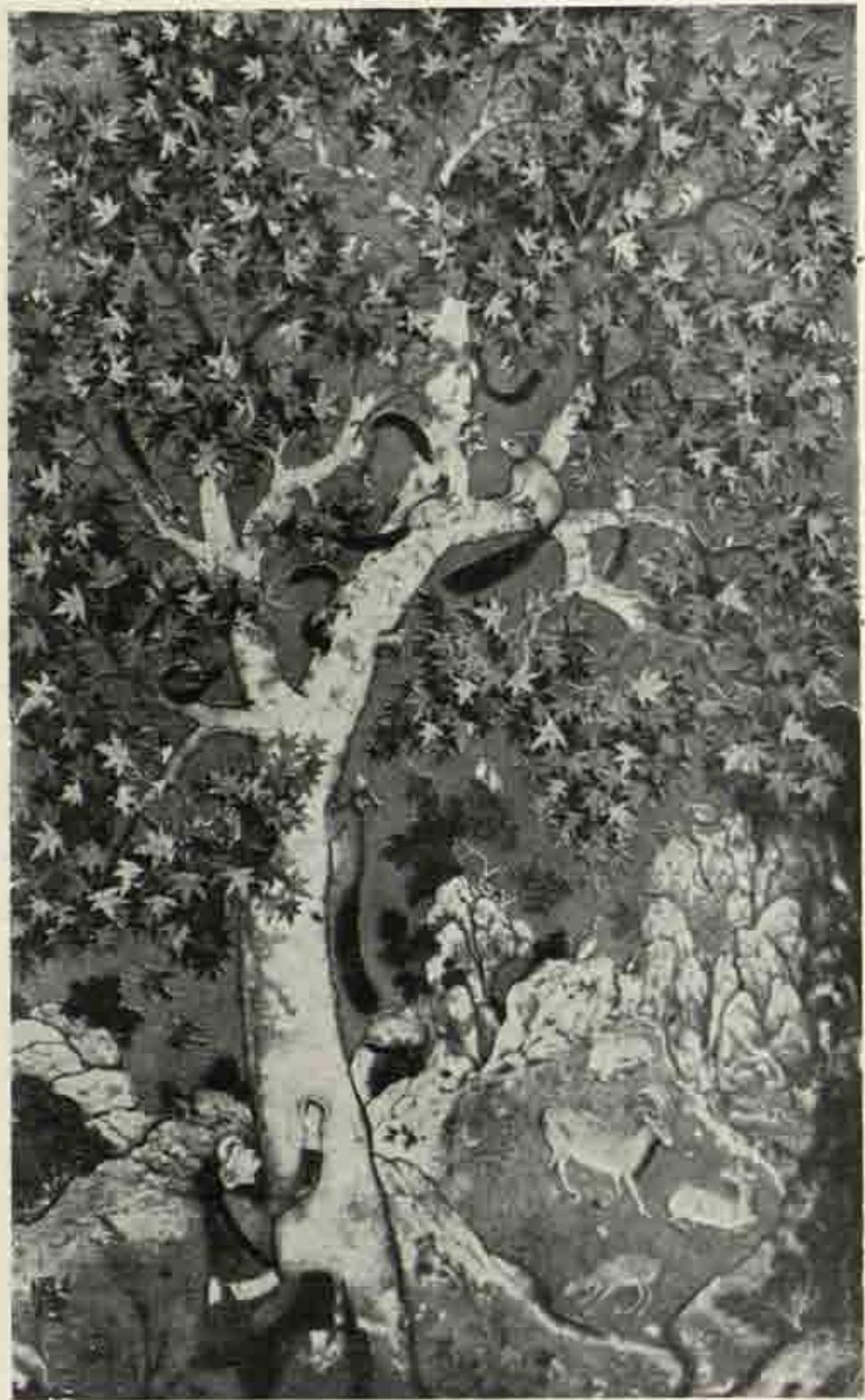
१५. रामनामा (मुगल, १६वीं शताब्दी का अन्त)



۱۶. बावरनामा (मुण्ड, ۱۵۶۷)



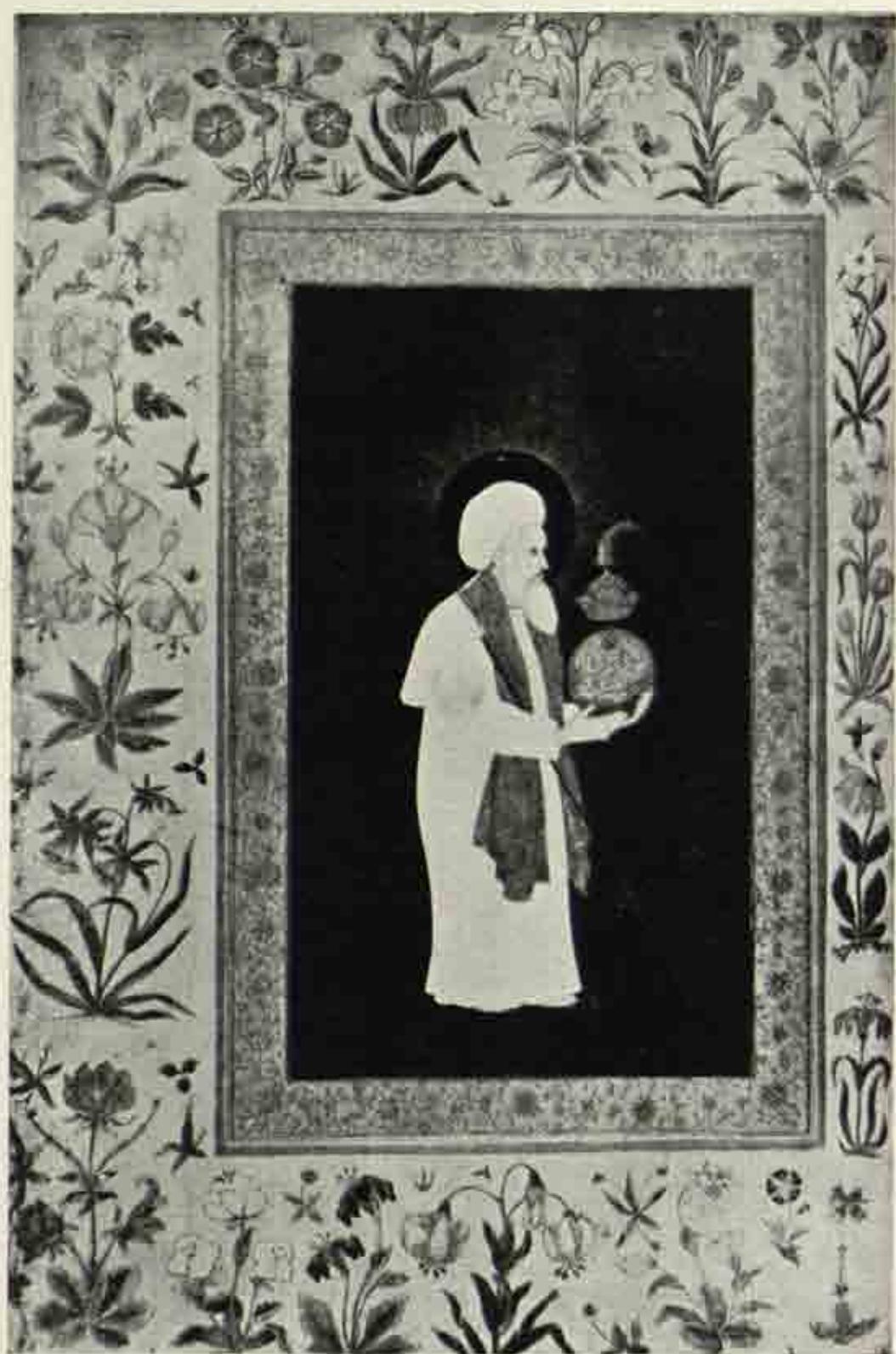
१६. मुबलहसन द्वारा चित्रित 'जहांगीर का दरबार' (मुग्जल, १६१५-१६)



१८. अबुलहसन द्वारा चित्रित 'चिनार का पेड़' (मुगल, १६१२-२७)



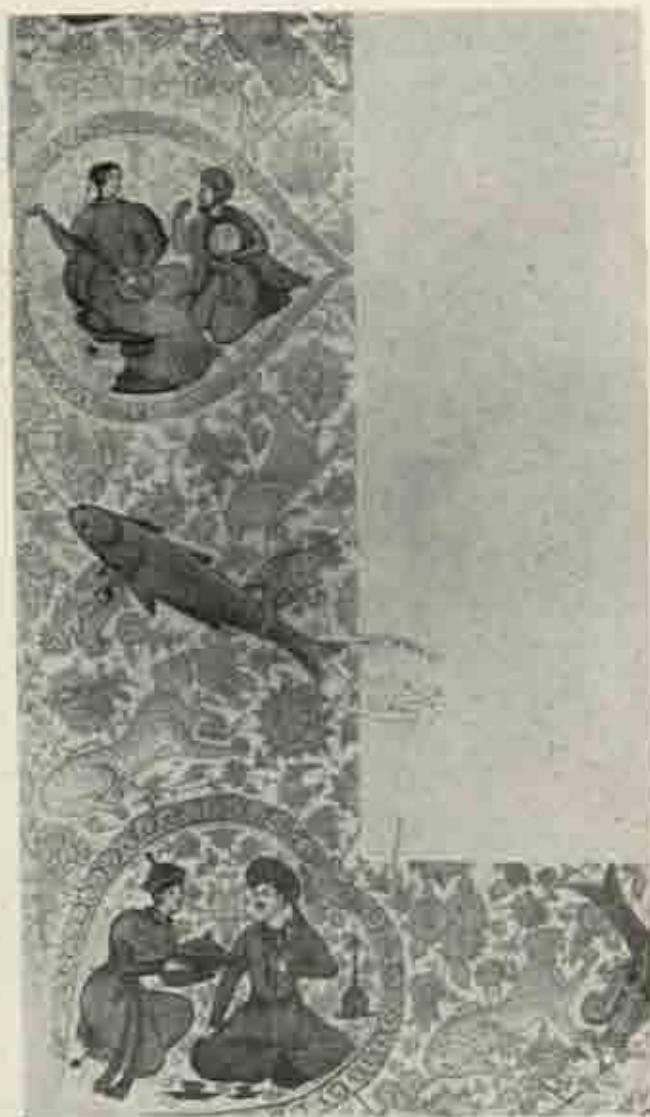
१६. उत्ताद मन्त्रुर द्वारा चित्रित 'बाज़' (मुगल, १६१०-२०)



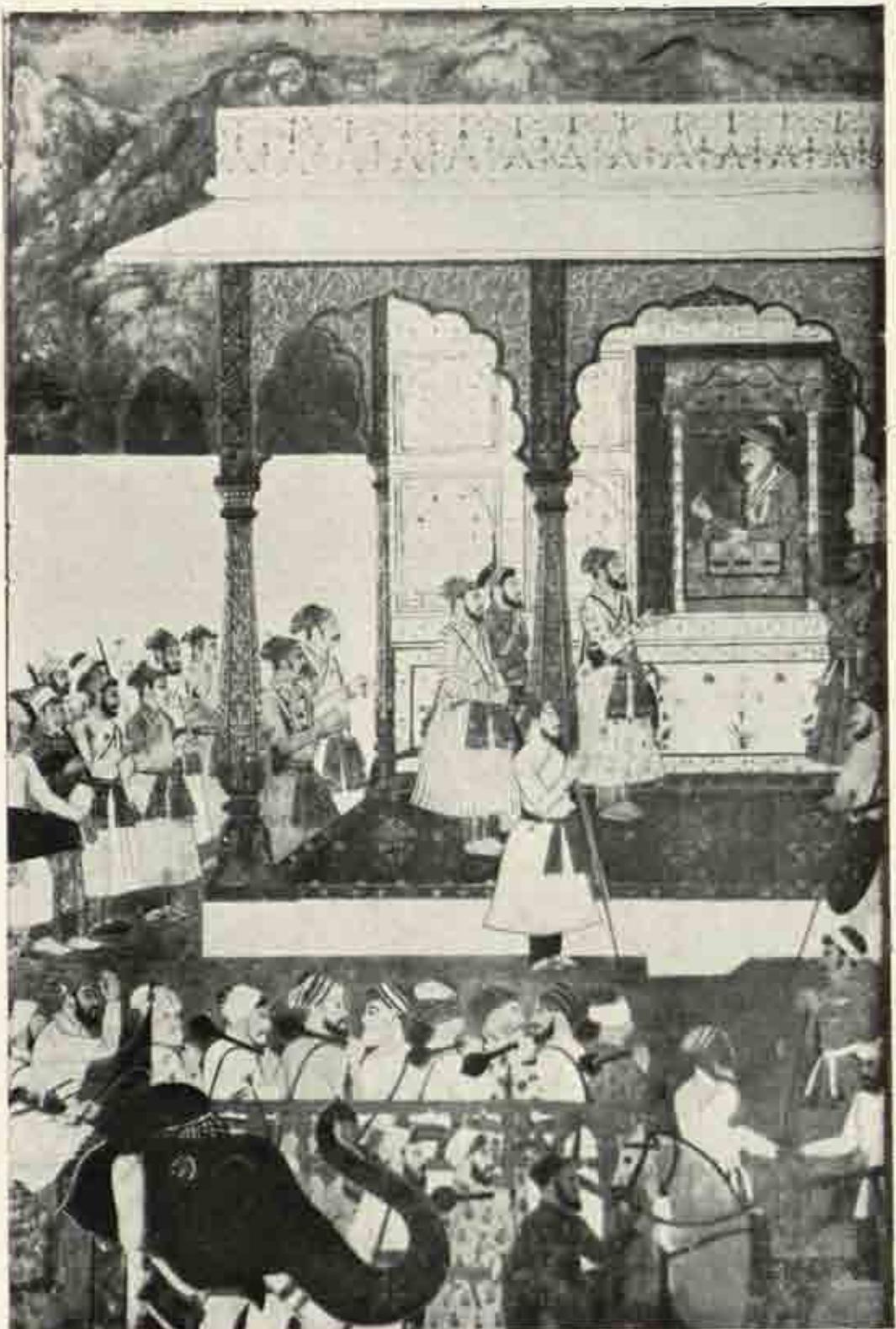
२०. विचित्र द्वारा चित्रित 'शाह दौलत' (मुगल, १६१०-२७)



२१. विचित्र द्वारा चित्रित 'जहांगीर के अपक्रिय चित्र की अनुकृति' (मुगल)



२२. जहांगीर के मुरव्वका-गुलशन के एक चित्र का हासिया
(मुगल, १६१५-२७)



२३. 'शाहजहां का दरबार' (मुगल, १६४५)

मेघमलार॥ नीरापदोरामणीपुडुको॥ संषडूकादहिसरससोजिबलि
हयन्त्रवरागमलूरपुत्रेमलिविशुरुतीकेरूनितंब॥ ३८॥



२४. रामिनो मेघ मलार (राजस्थानी, मेवाड़ गाँली, १६२८)



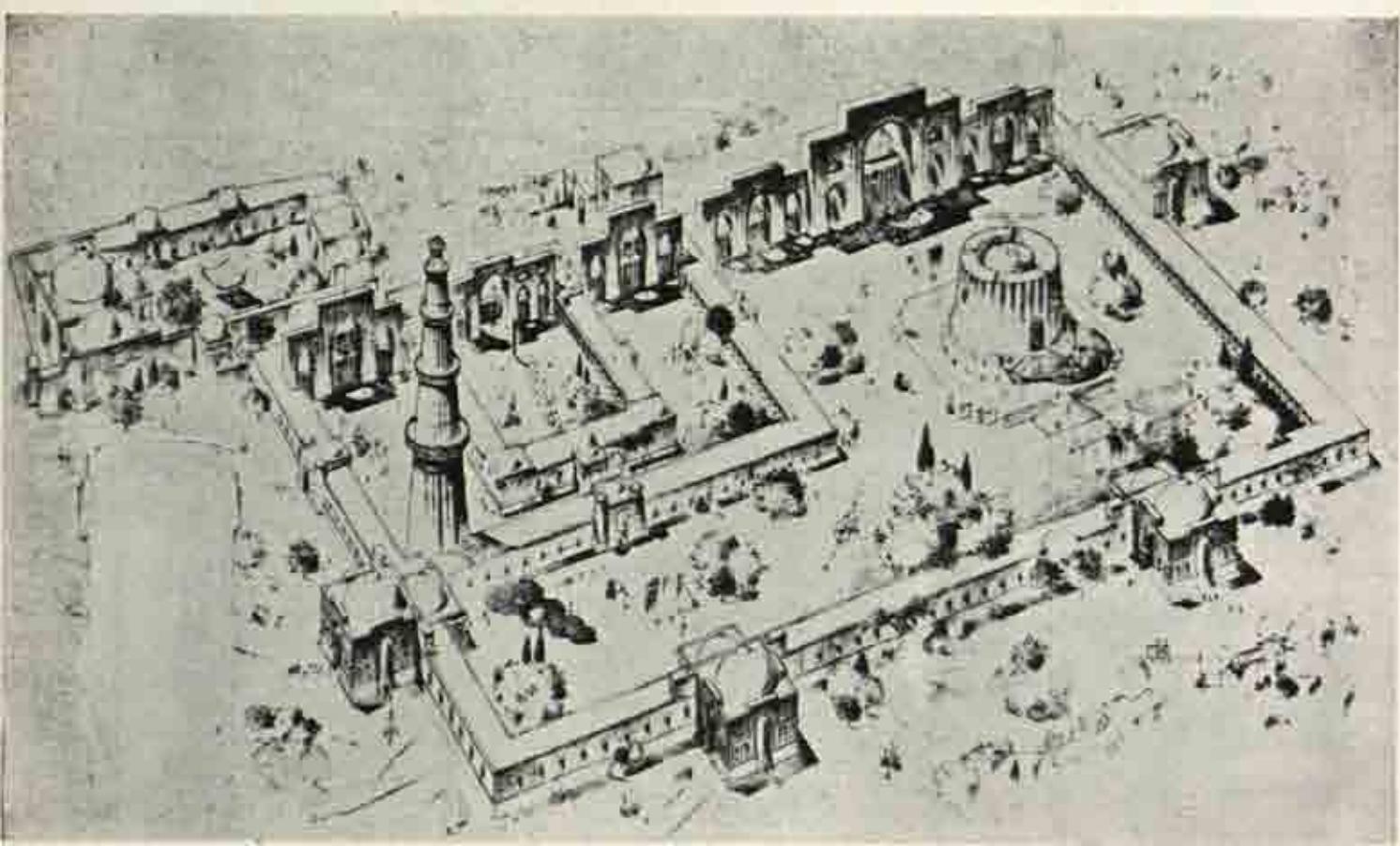
२५. 'पढ़ता हुआ पुरुष' (दक्षिणी बोजापुर शंखो, १६१०)



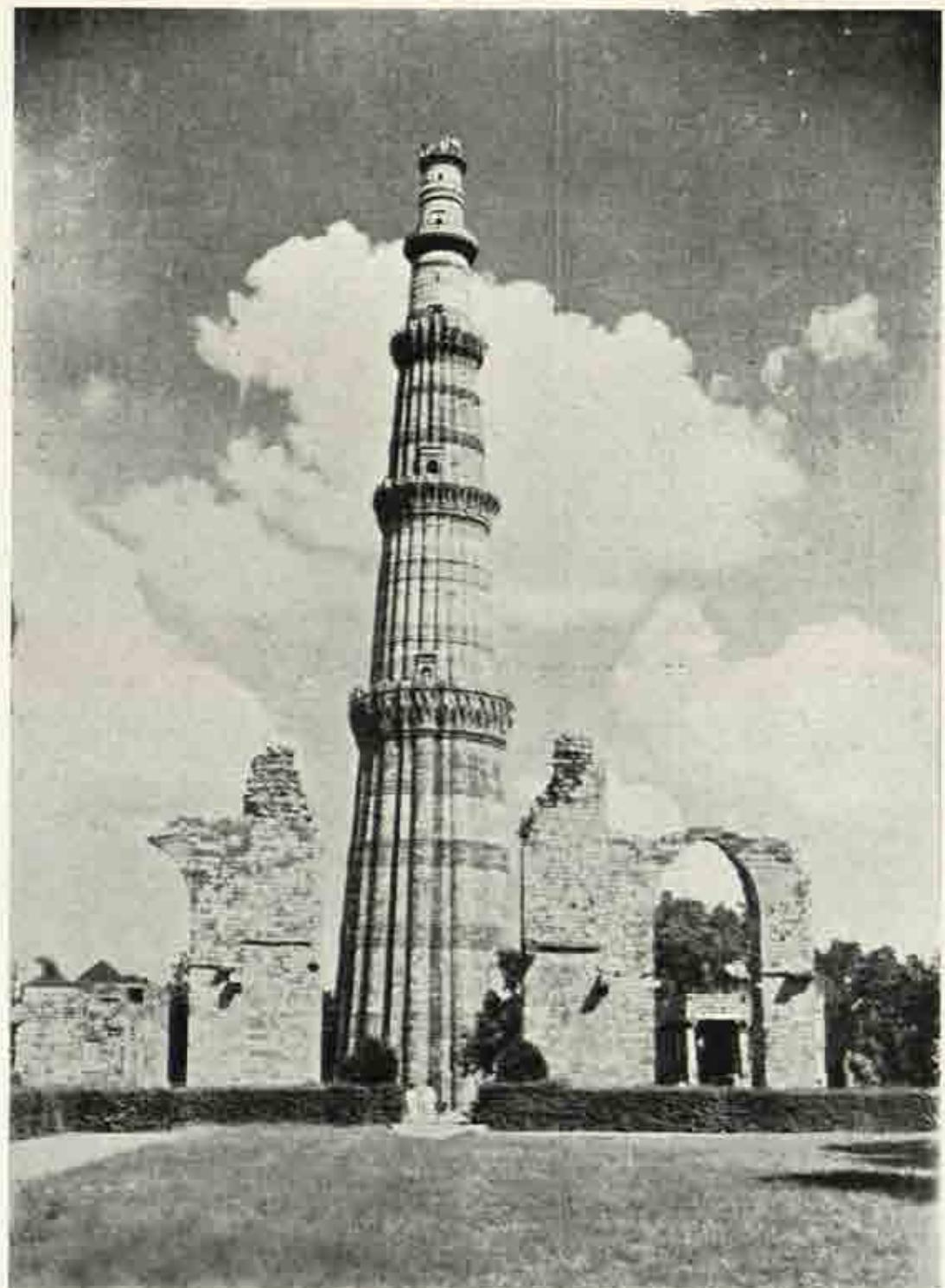
२६. 'रागिनी मधु माधवी' (दक्षिणी गोल कुण्डा शैली, १७वीं शताब्दी का ग्रंथ)



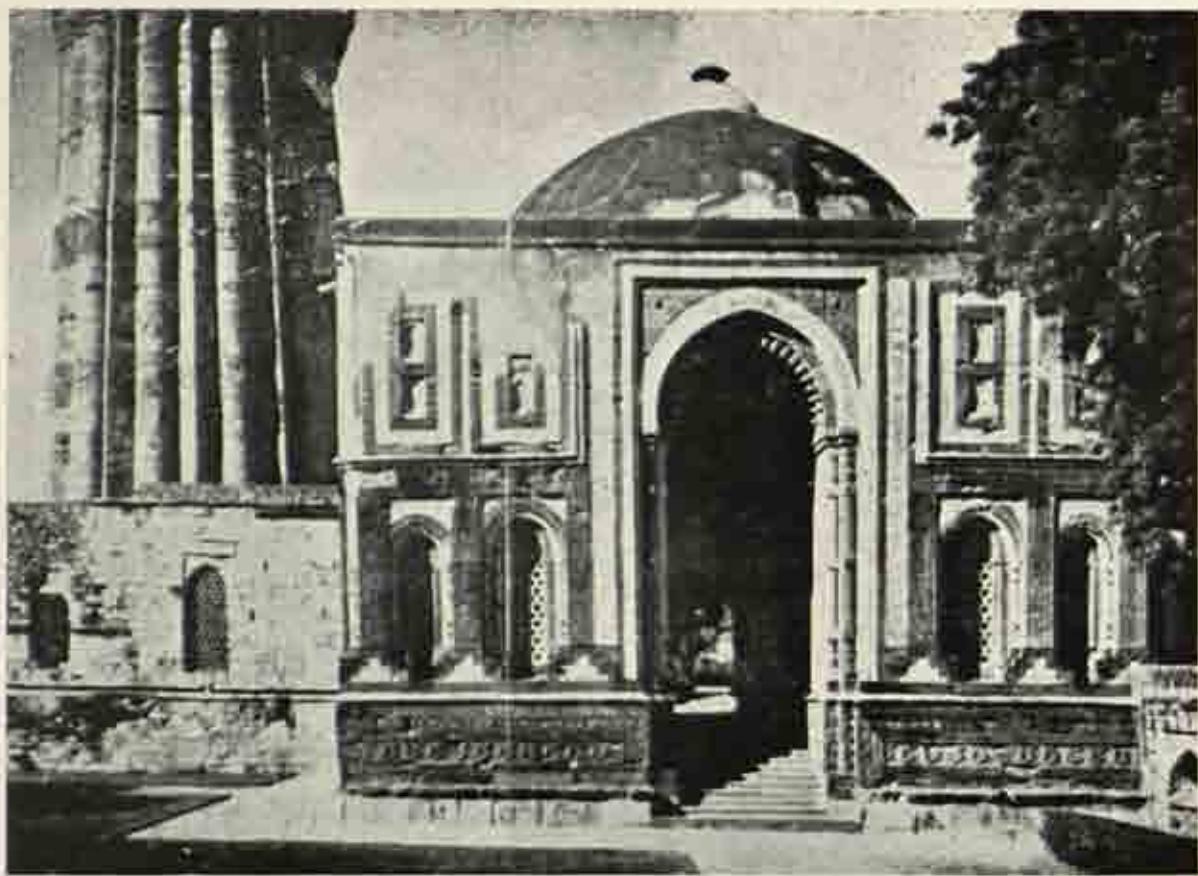
२७. कन्दरीय महादेव का मन्दिर खजुराहो (१०वीं शताब्दी)



२८. कुतुबत-उल मसजिद विल्लो का काल्पनिक मूल रूप (११६७)



२६. कुतुब मीनार देहली (११६६-१२१२)



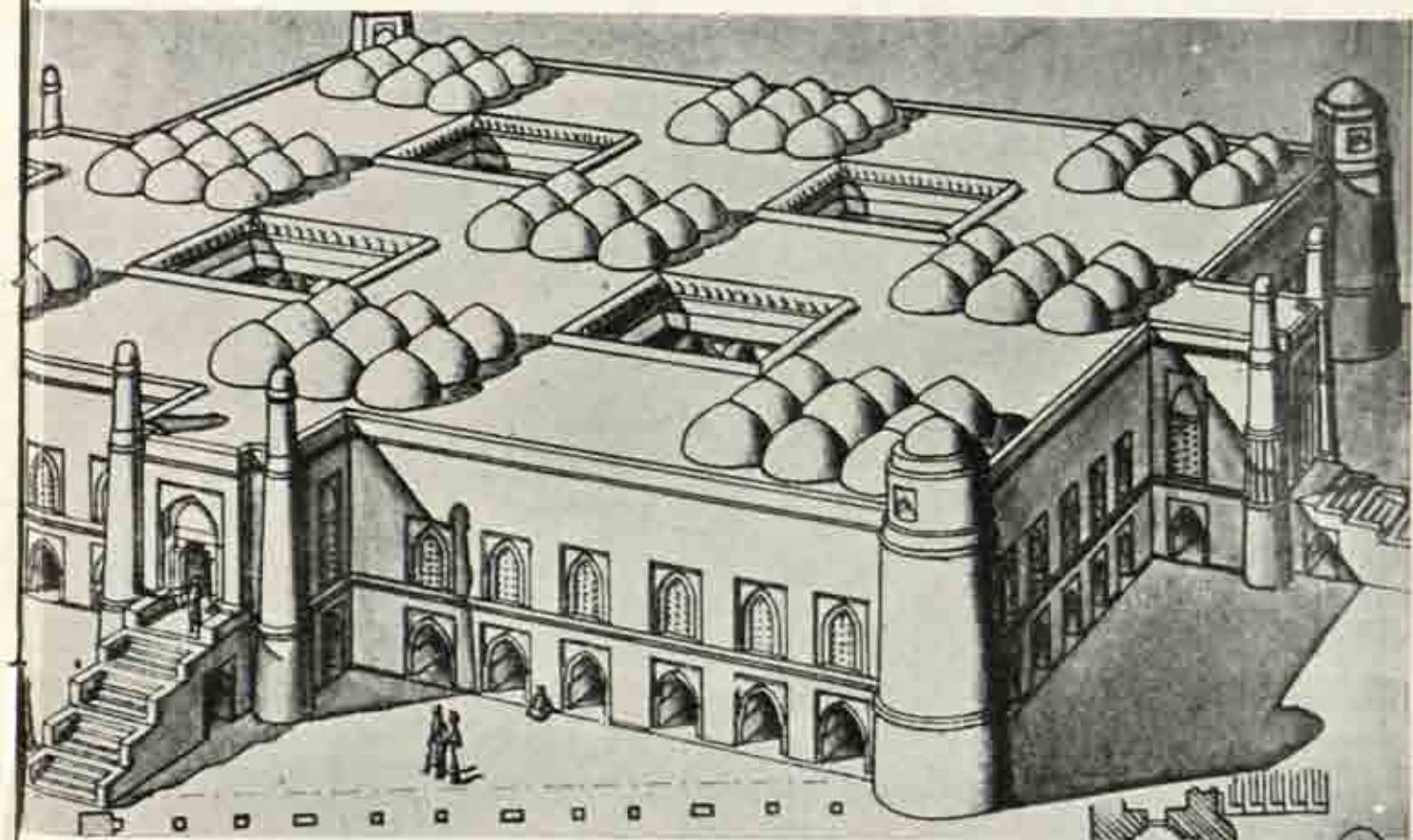
३०. अलाई दरवाजा दिल्ली (१३०५)



३१. म्यामुदीन तुगलक का मकबरा दिल्ली (१३२५)



३२. बेगमपुरी मसजिद दिल्ली (१३८७)



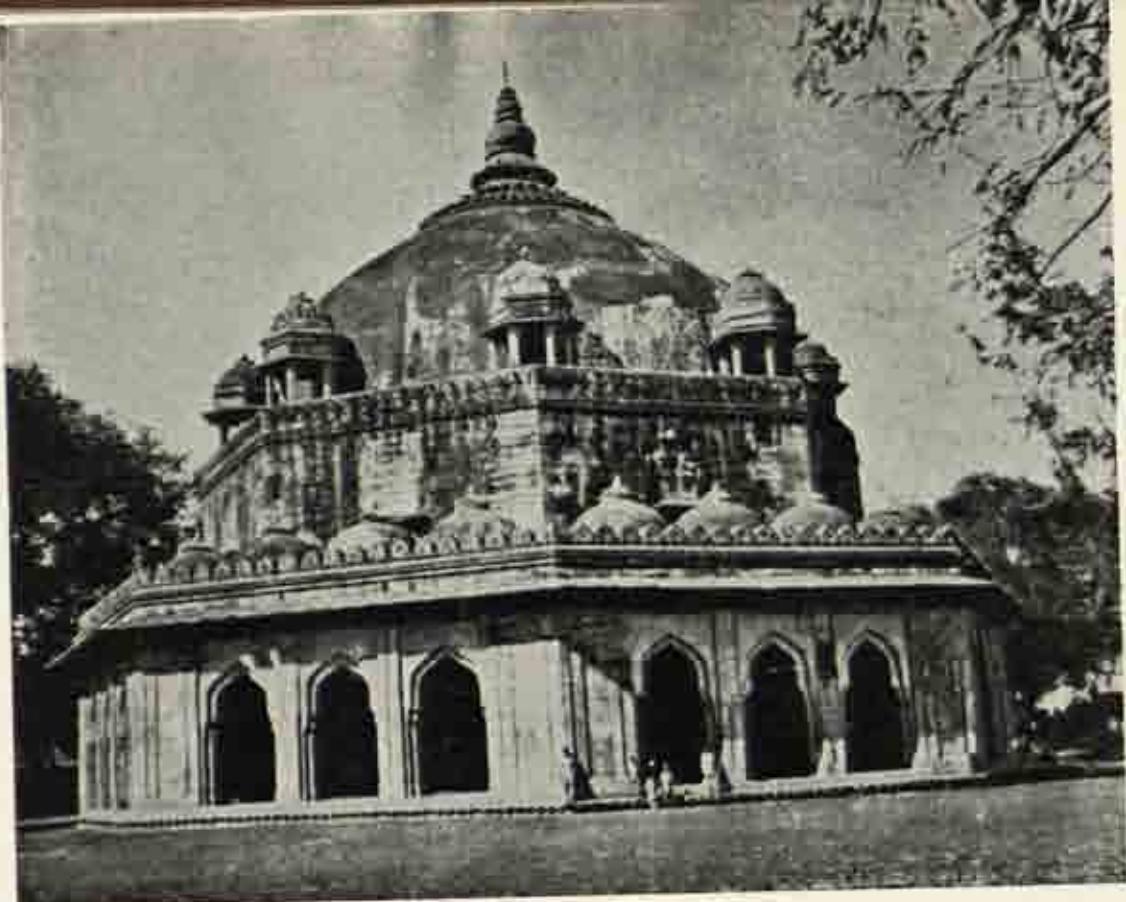
३३ कालान मसजिद दिल्ली (१३७०)



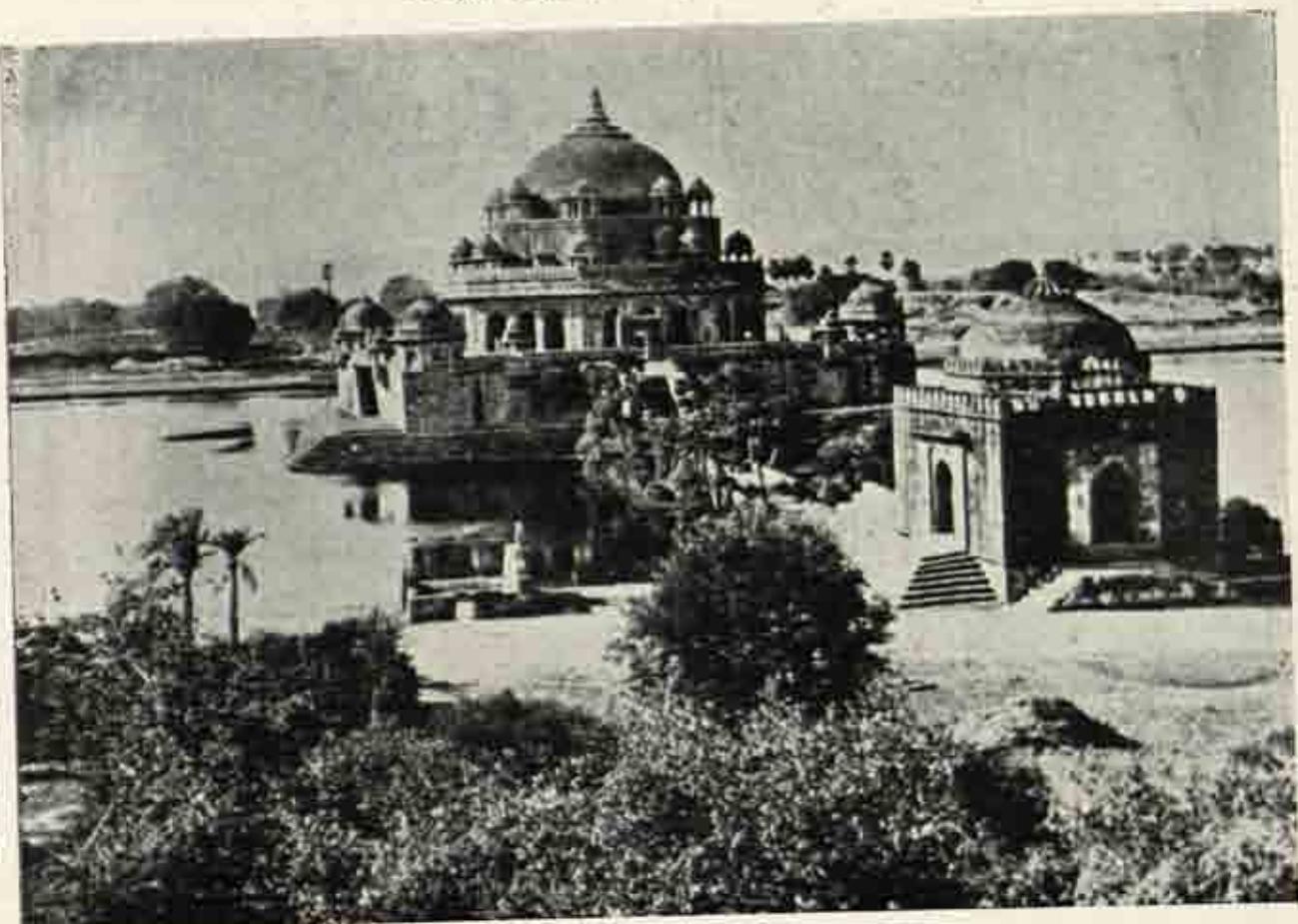
३४. लिङ्गको मसजिद बिल्ली (१३७५)



३५. एक वर्गाकार मकबरा, बिल्ली (१५वीं शताब्दी)



३६. हमन खां सूर का मकबरा, सासाराम (१५४०-४५)



३७. शेरशाह सूर का मकबरा, सासाराम (१५४५)



३४. लिल्की मसजिद दिल्ली (१३७५)



३५. एक बर्गाकार मकबरा, दिल्ली (१५वीं सतावंदी)



३६. हसन खाँ सूर का मकबरा, सासाराम (१५४०-४५)



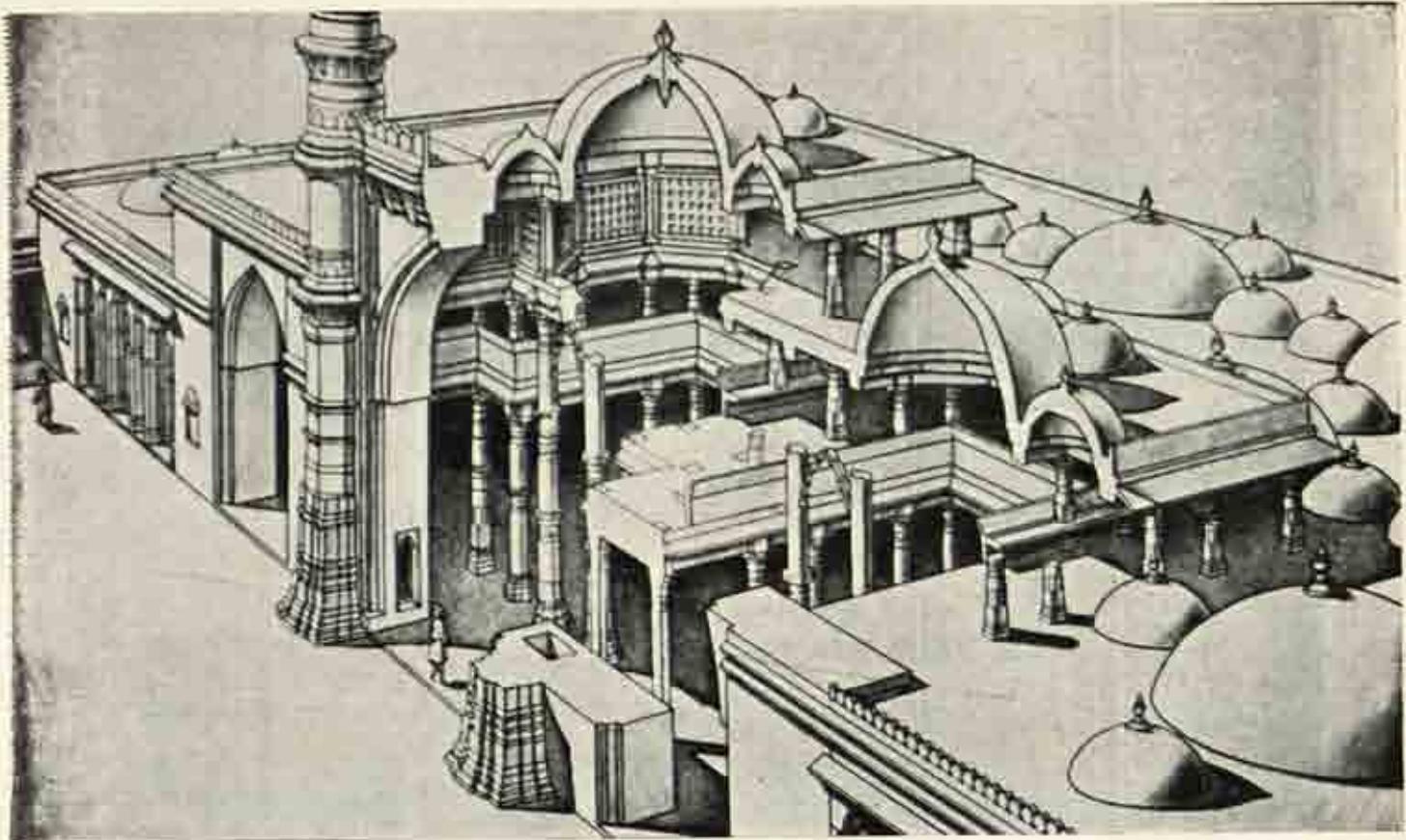
३७. शेरशाह सूर का मकबरा, सासाराम (१५४५)



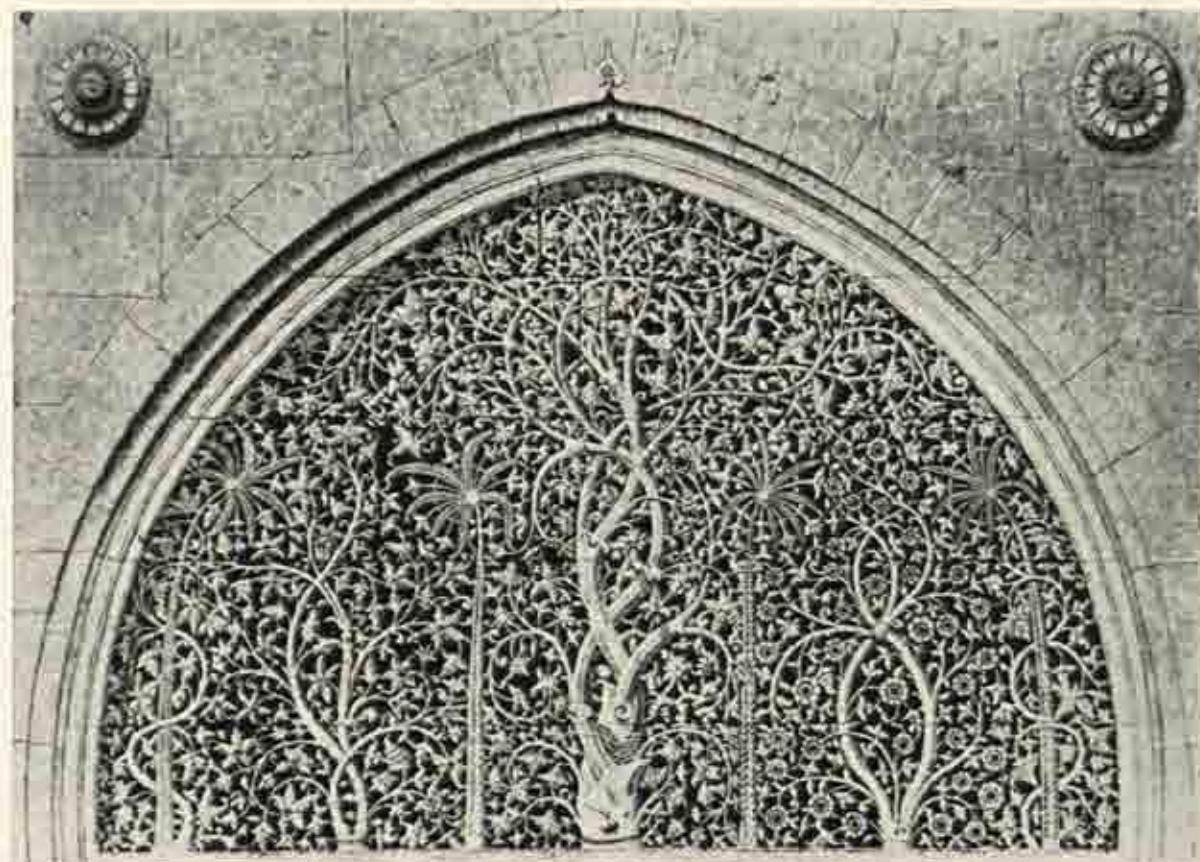
३८. किला-ए-कुहना मसजिद, दिल्ली (१५४२)



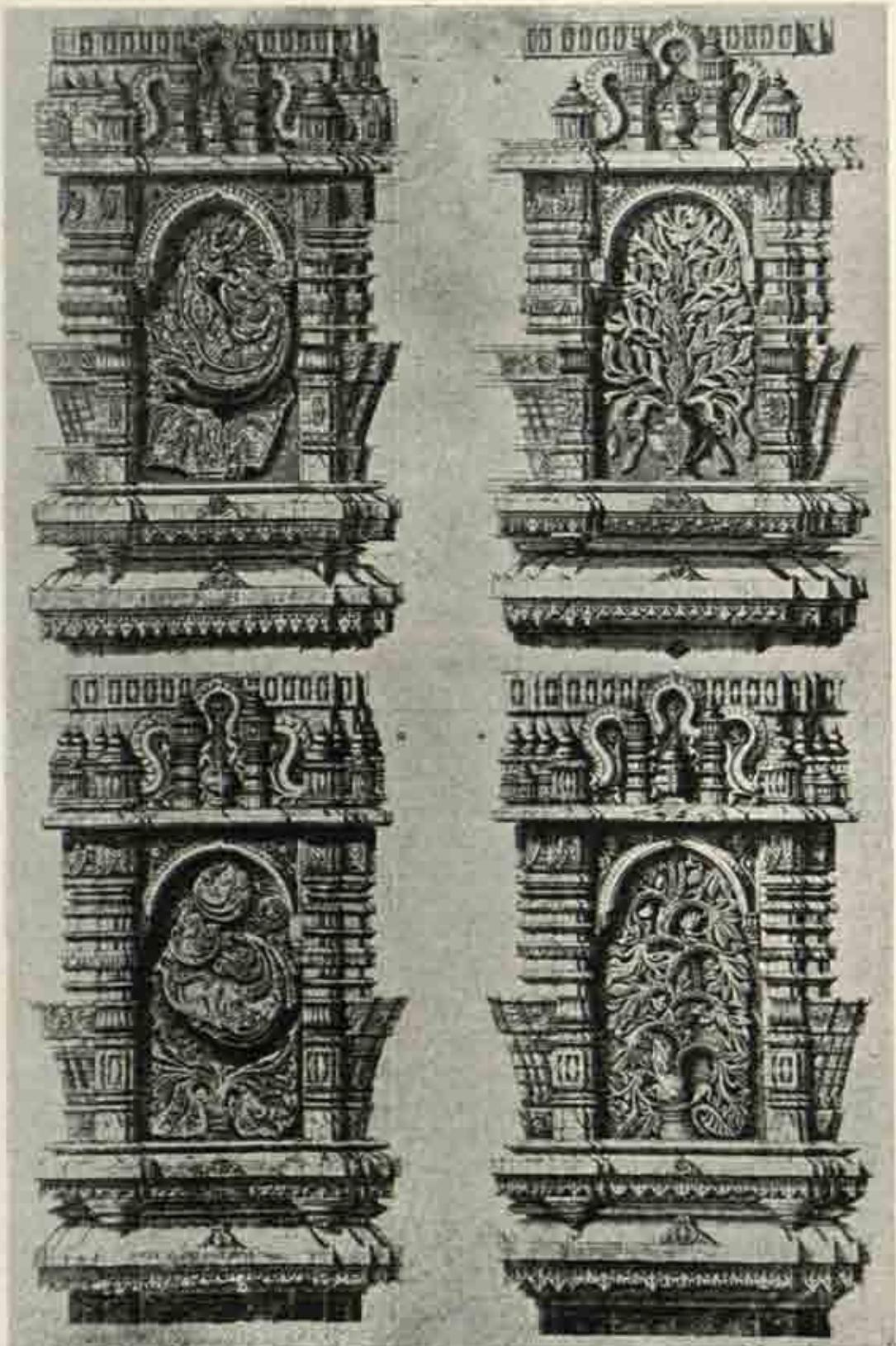
३९. जामी मसजिद, अहमदाबाद (१४२३)



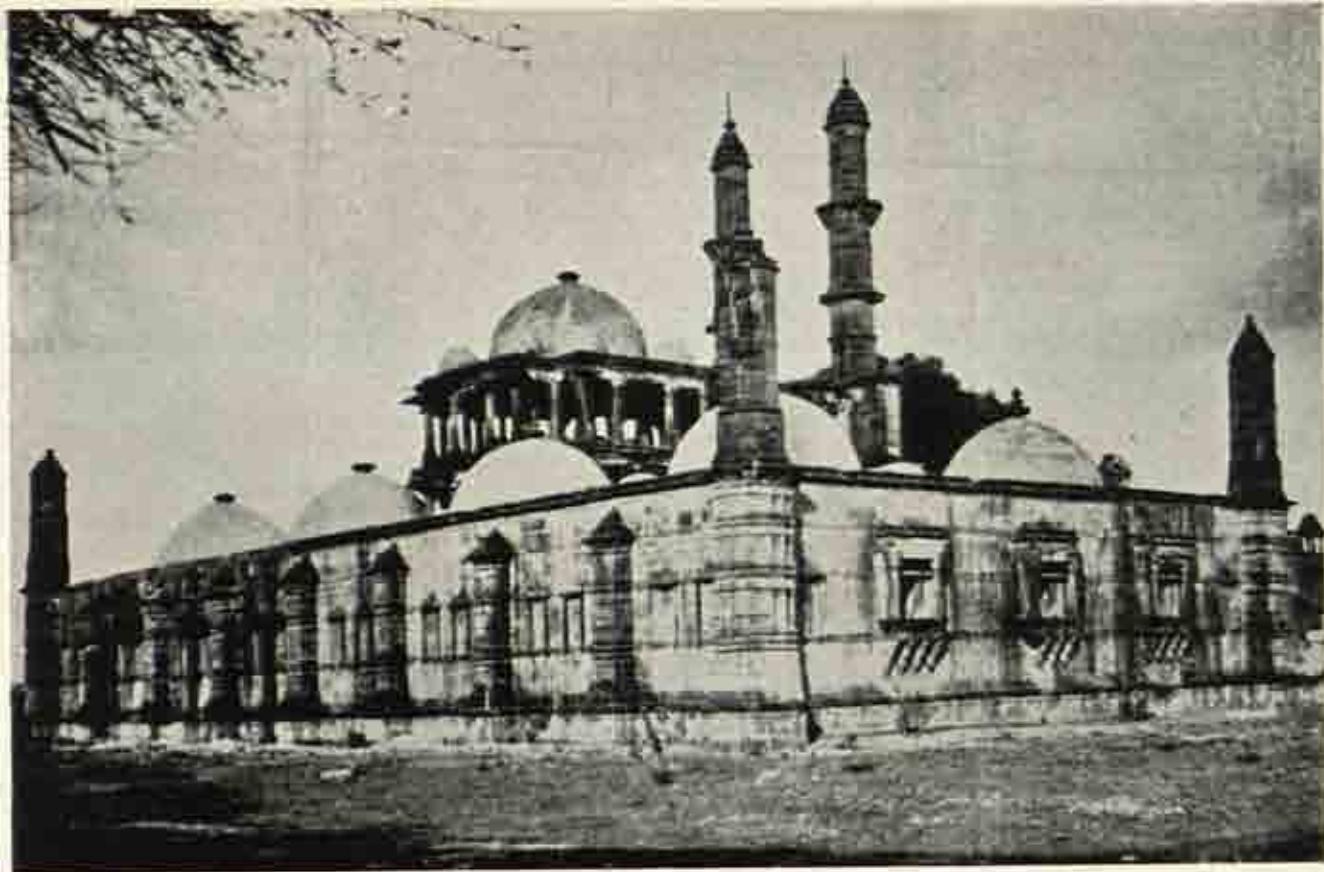
४०. जामी मसजिद अहमदाबाद का आन्तरिक भाग (१४२३)



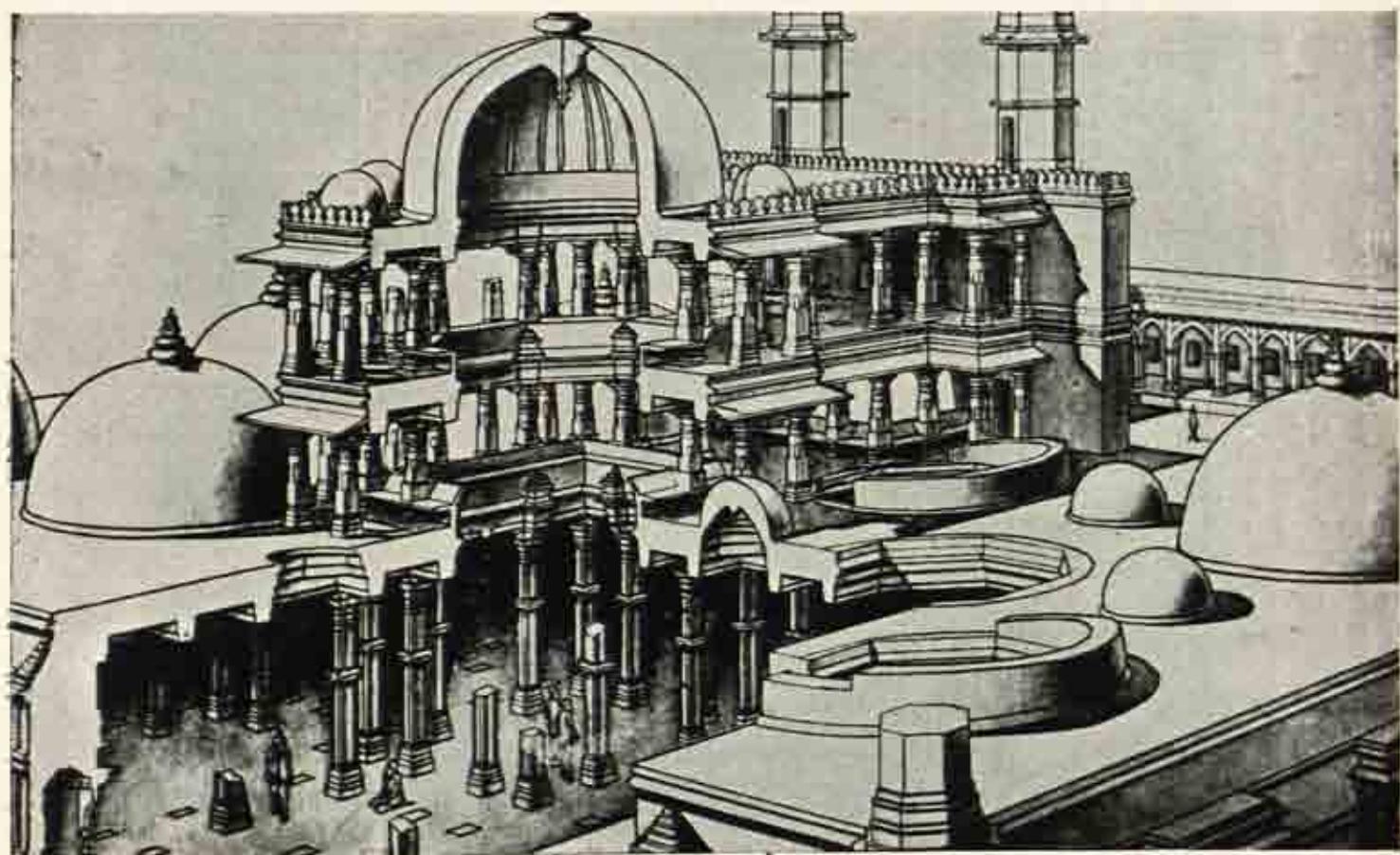
४१. अहमदाबाद को सिंडी संघव की मसजिद की जाली (१५१५)



४२. अहमदाबाद की सारंगपुर मस्जिद के उत्कोण फलक (१५३०)



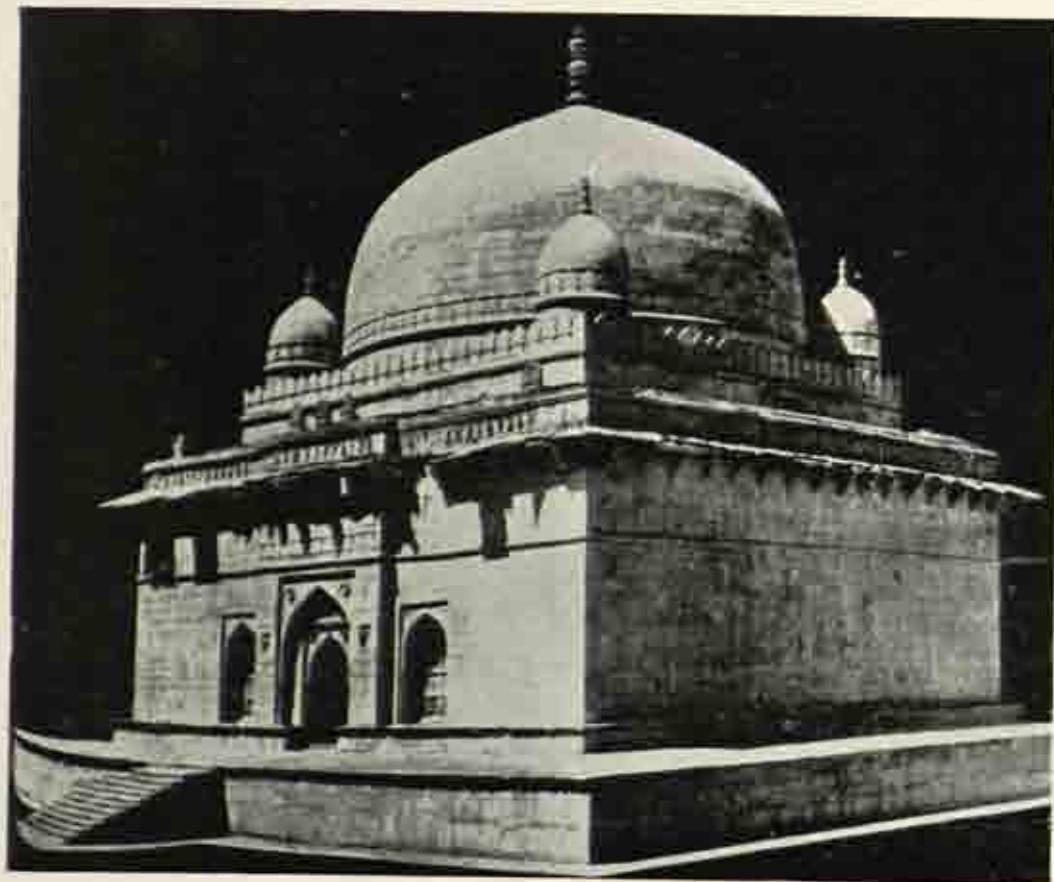
४३. जामी मस्जिद, चित्तोर (१५००)



४४. जामी मस्जिद चित्तोर का आन्तरिक भाग (१५००)



४५. हिंदौला महल, माण्डू (१४२५)



४६. होमंग शाह का मकबरा, माण्डू (१४४०)



४७. जामो मसजिद, माण्डू (१५४०)



४८. माण्डू की जामो मसजिद का भोतरी भाग (१५४०)



४६. असार्फी महल, माण्ड (१४३६-६६)



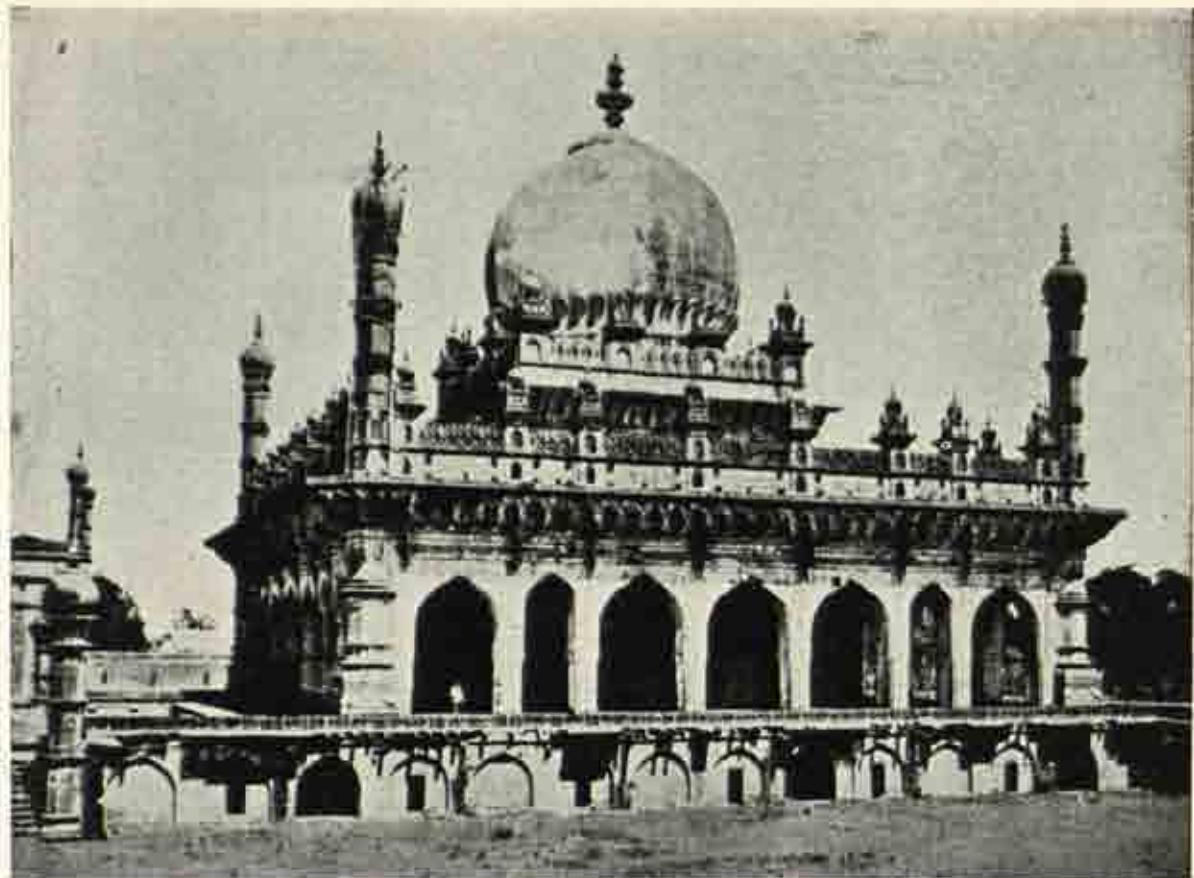
४०. जहाज महल, माण्ड (१४६६-१५००)



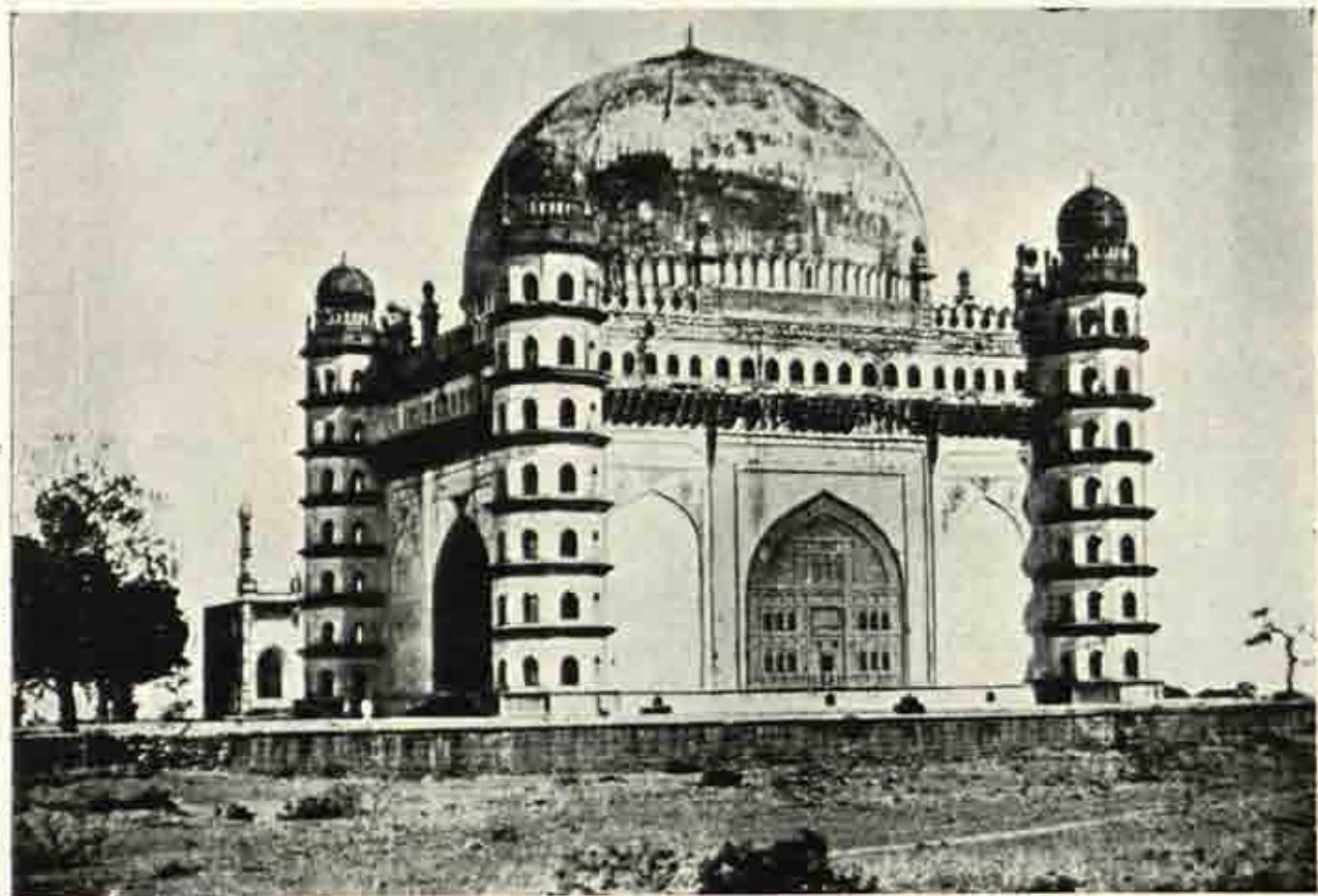
५१. जामी मस्जिद, गुलबर्गा (१३६७)



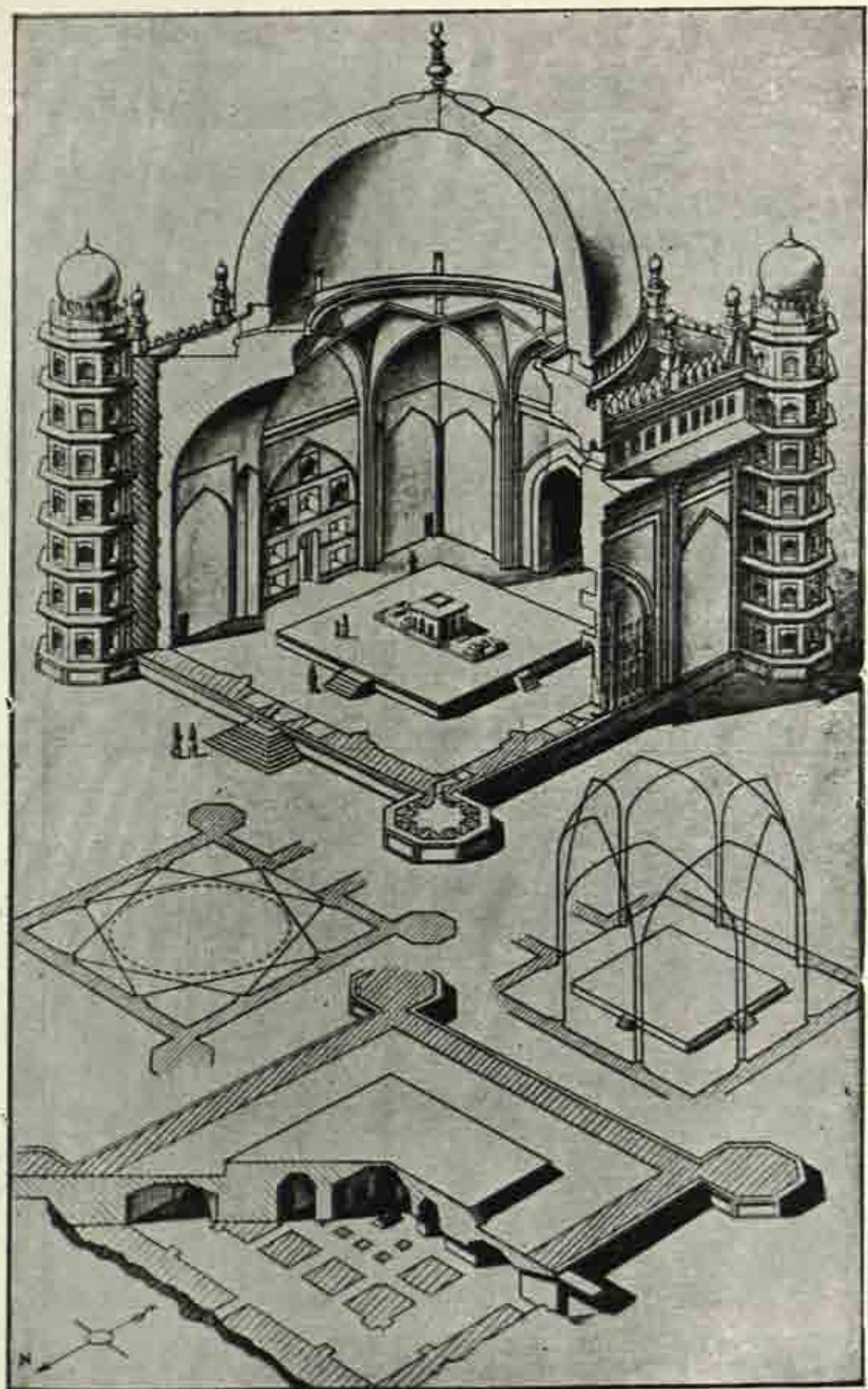
४२. चार मीनार, हैदराबाद (१५६१)



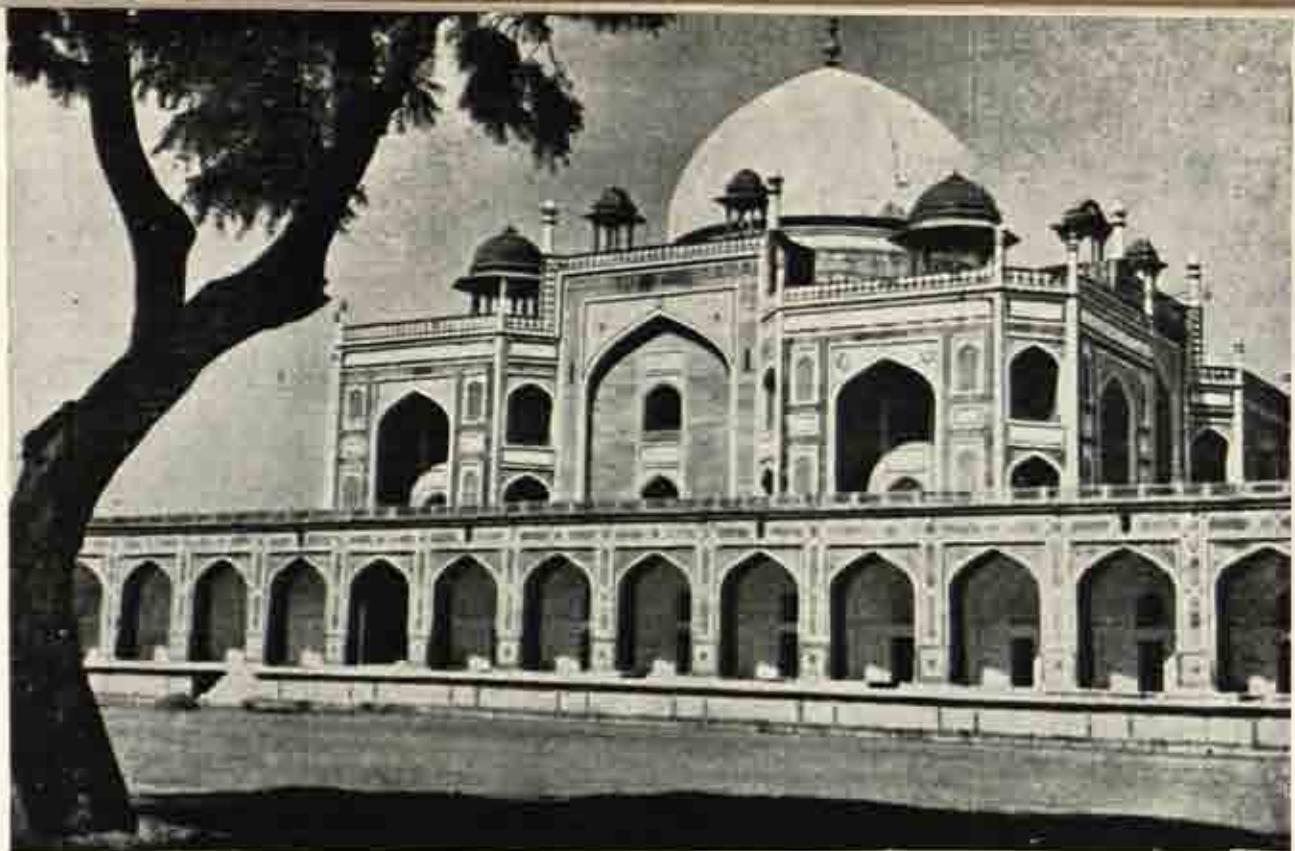
५३. इब्राहीम रोजा, बीजापुर (१६१५)



५४. गोल गुम्बज, बीजापुर (१६५०)



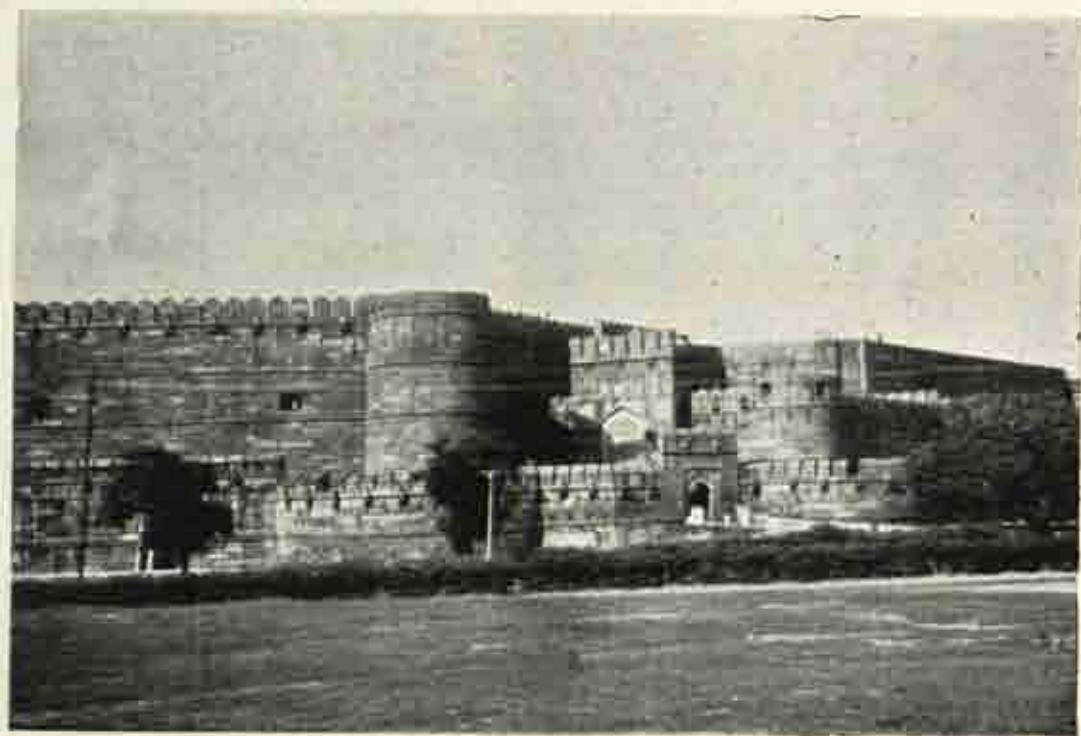
५५. गोल गुम्बज बीजापुर का आनतरिक भाग (१६५०)



५६. हुमायूं का मकबरा, दिल्ली (१५६४-७०)



५७. मुहम्मद़ गोस का मकबरा, खालियर (लगभग १५६४)



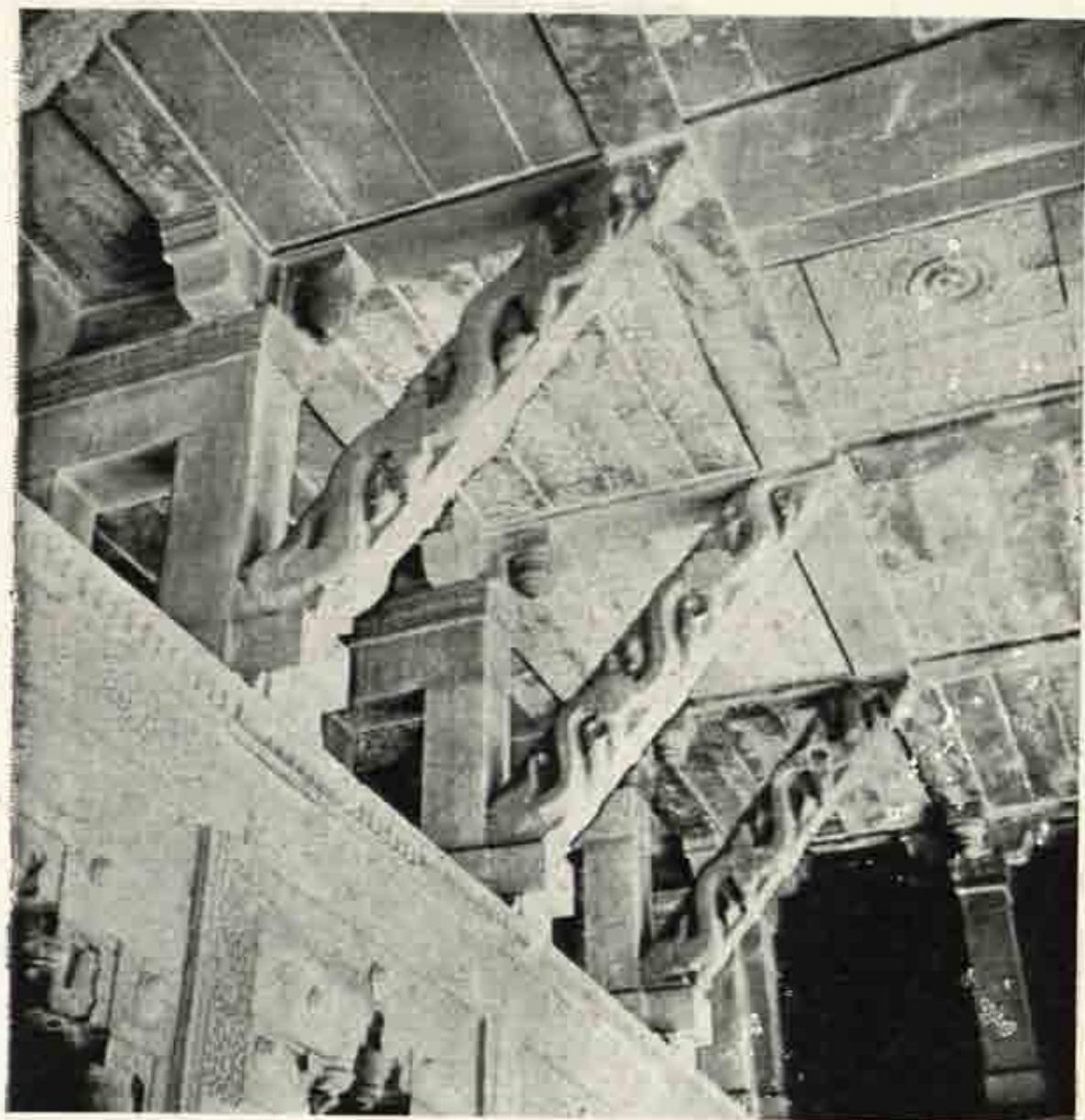
५८. आगरे का किला (१५६५-७२)



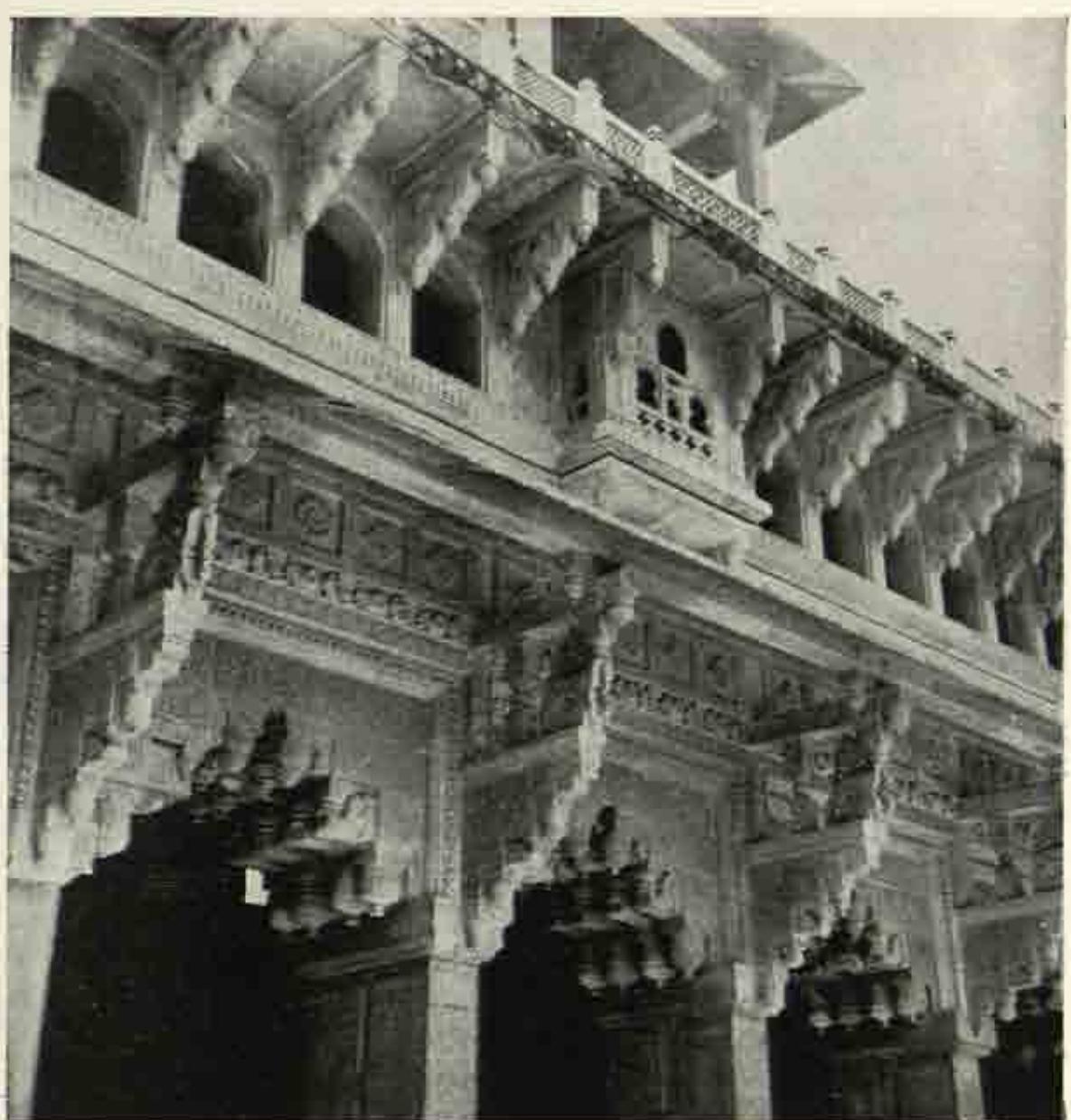
प्र६. आगरे के किले का दिल्ली द्वार (१५६८-८६)



६०. जहांगीरी महल का पश्चिमी मुख (१५६५-७२)



६१. उत्तरी हाल के सर्वकार तोड़े।



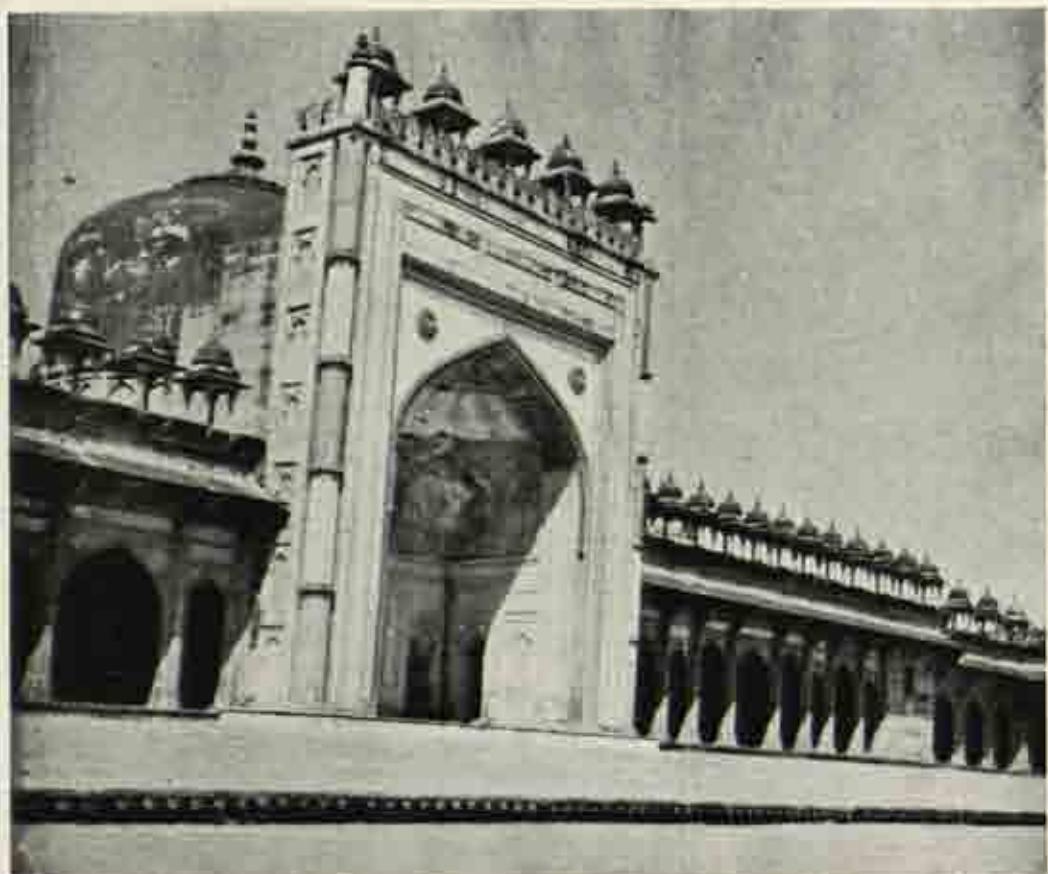
६२. जहांगीरी महल का भीतरी प्रांगन।



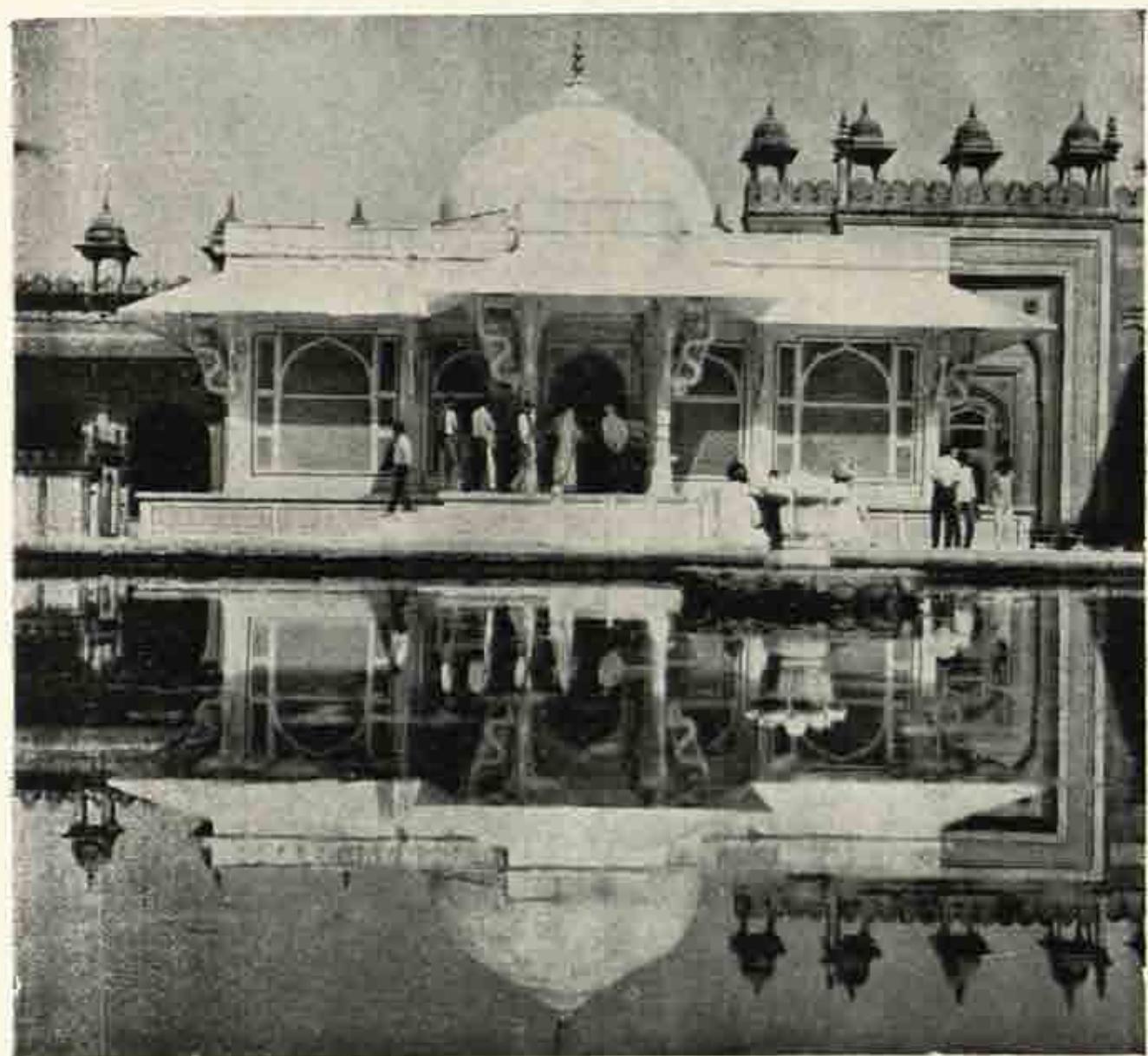
६३. मधुर मण्डप के मधुराहाति के तोड़े।



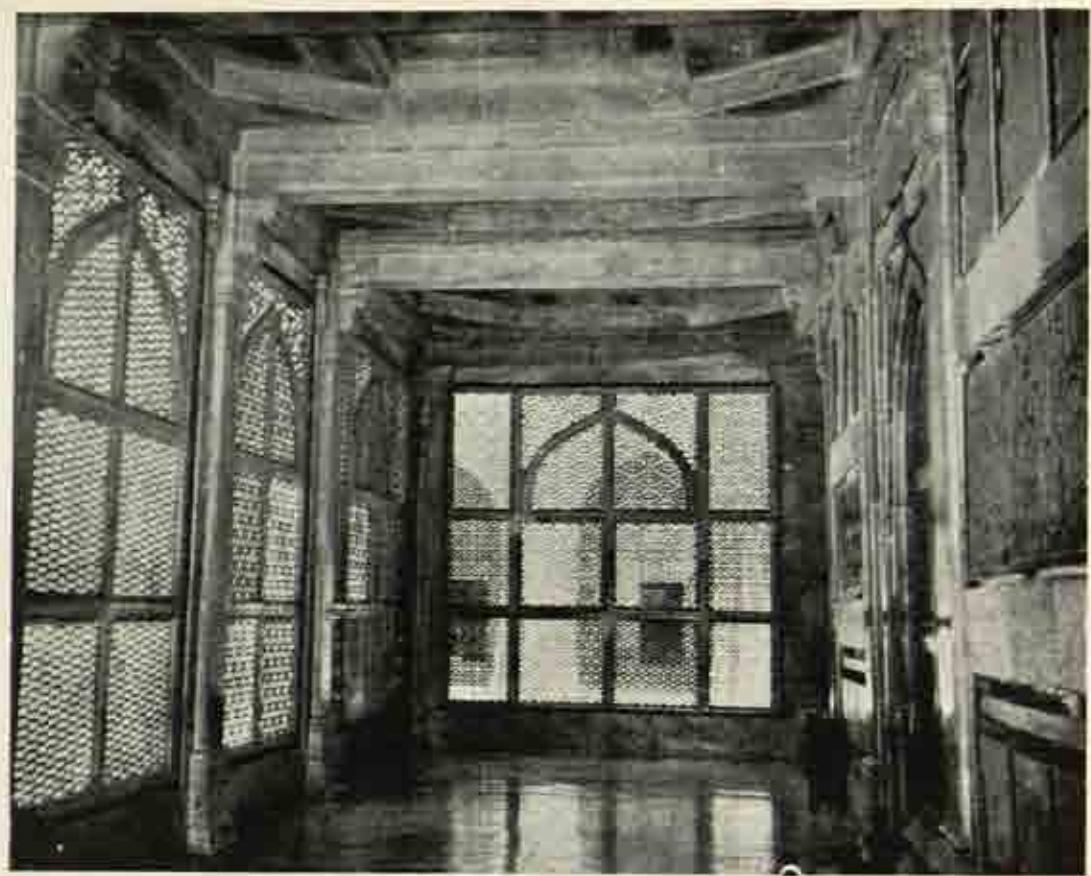
६४. कतेहपुर सीकरी का बुलम्ब दरवाजा (१६१)



६५. कतेहपुर सीकरी की जामी मस्जिद का आराधना भवन (१२३१)



६६. सलीम चिश्ती का मकबरा, फतेहपुर सीकरी (१५८१)



६७. सलीम चिश्ती के मकबरे का जालीवार बरामदा।



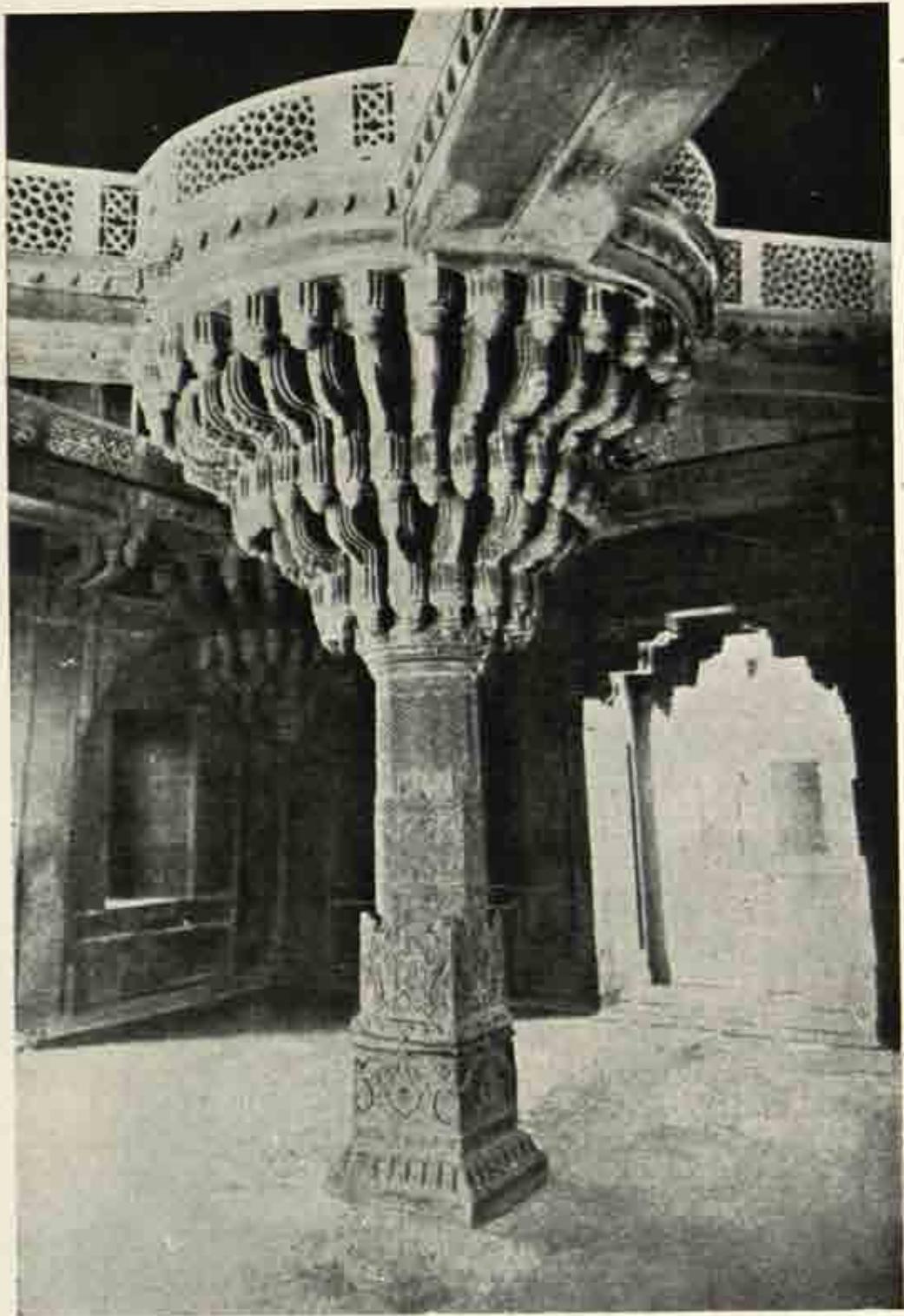
६८. तथाकथित जोधबाई का महल, कतेहपुर सीकरी (१५३१-८४)



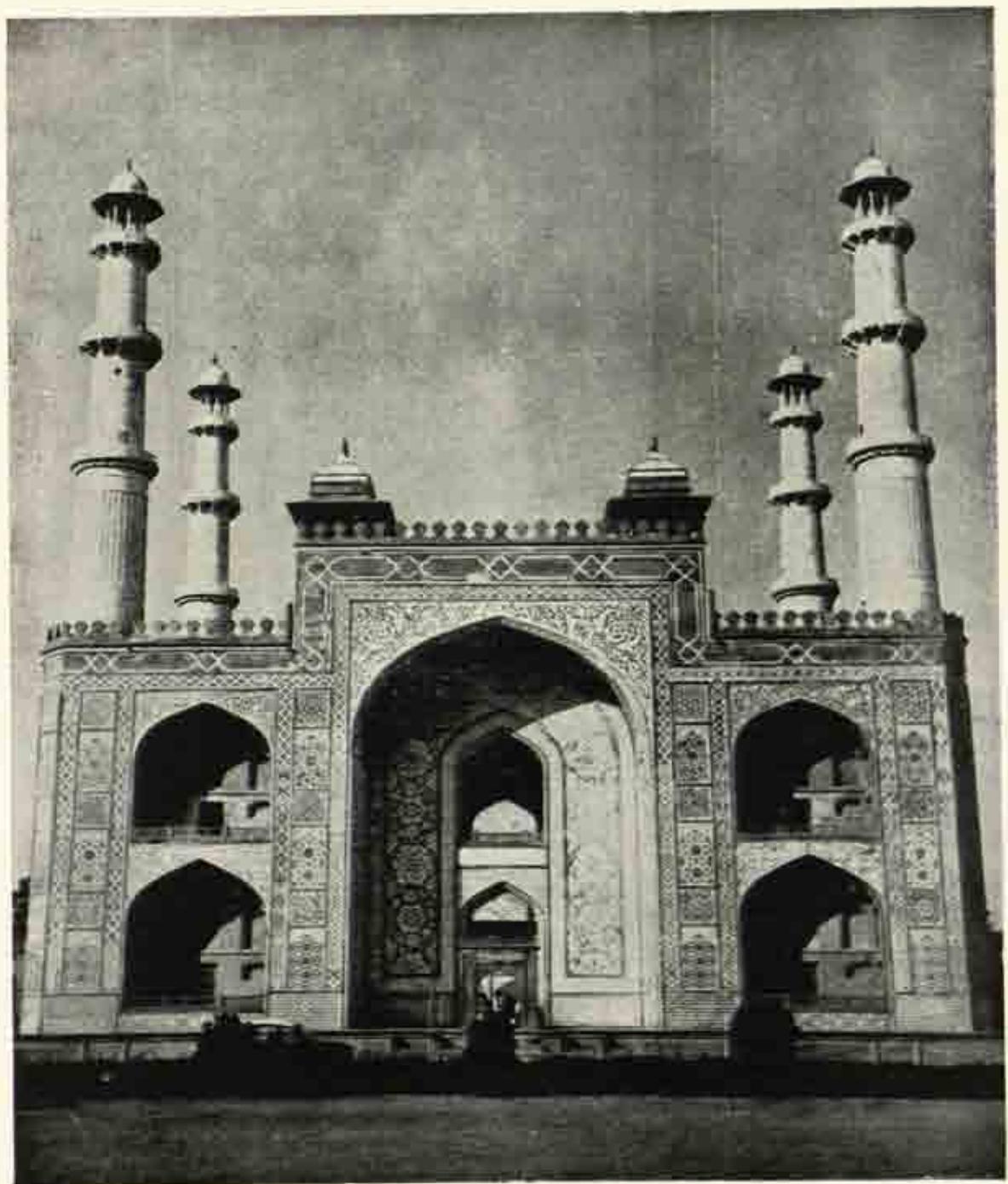
६६. बीरबल का महल, फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)



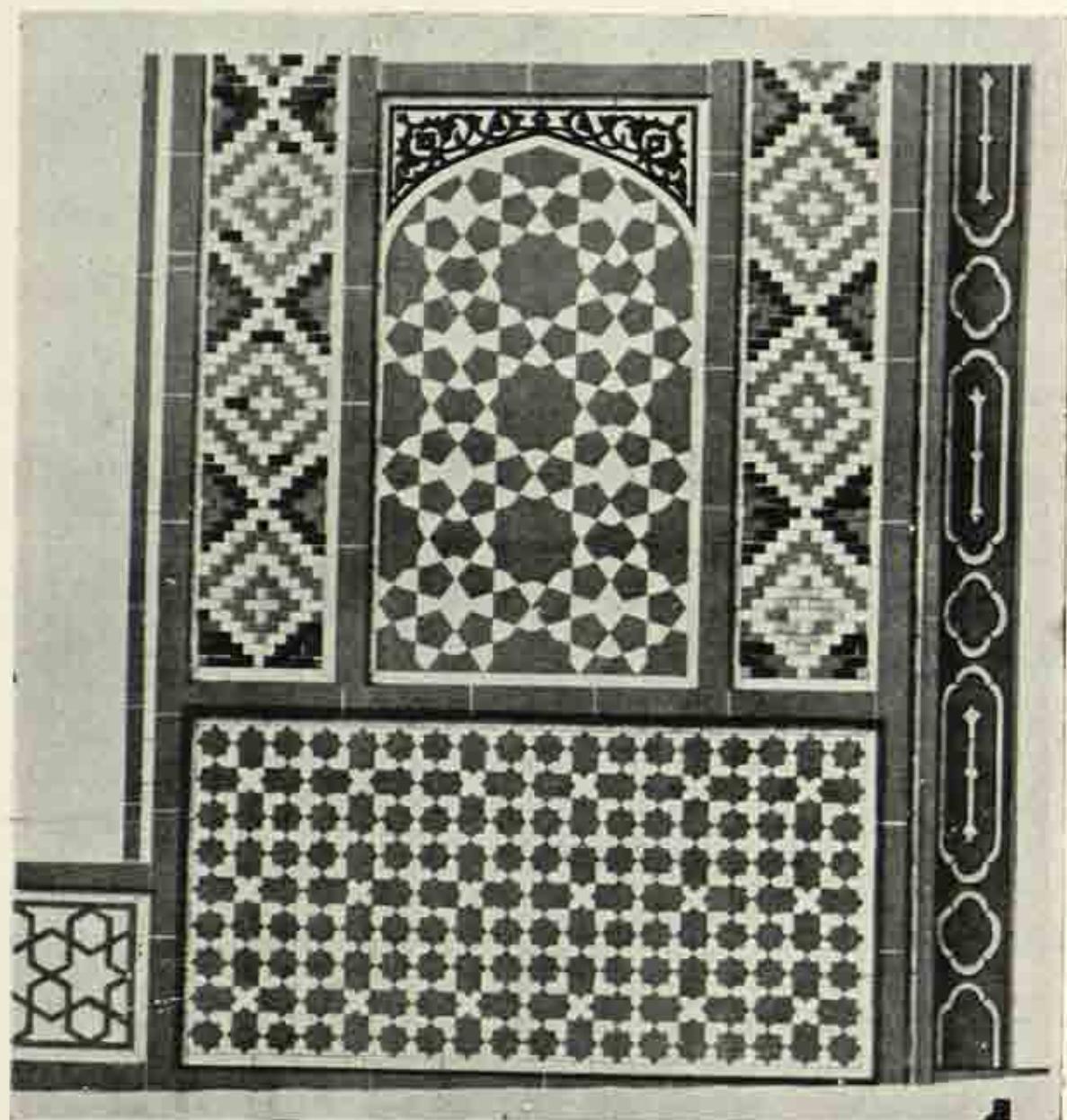
७०. दीवान-ए-खास कोटेहपुर सीकरी (१५७१-८४)



७१. दीवान-ए-खास का एक स्तम्भ।



७३. दाकबर के समावरे का मुख्य द्वार, सिकन्दरा शागरा (१६०५-१२)



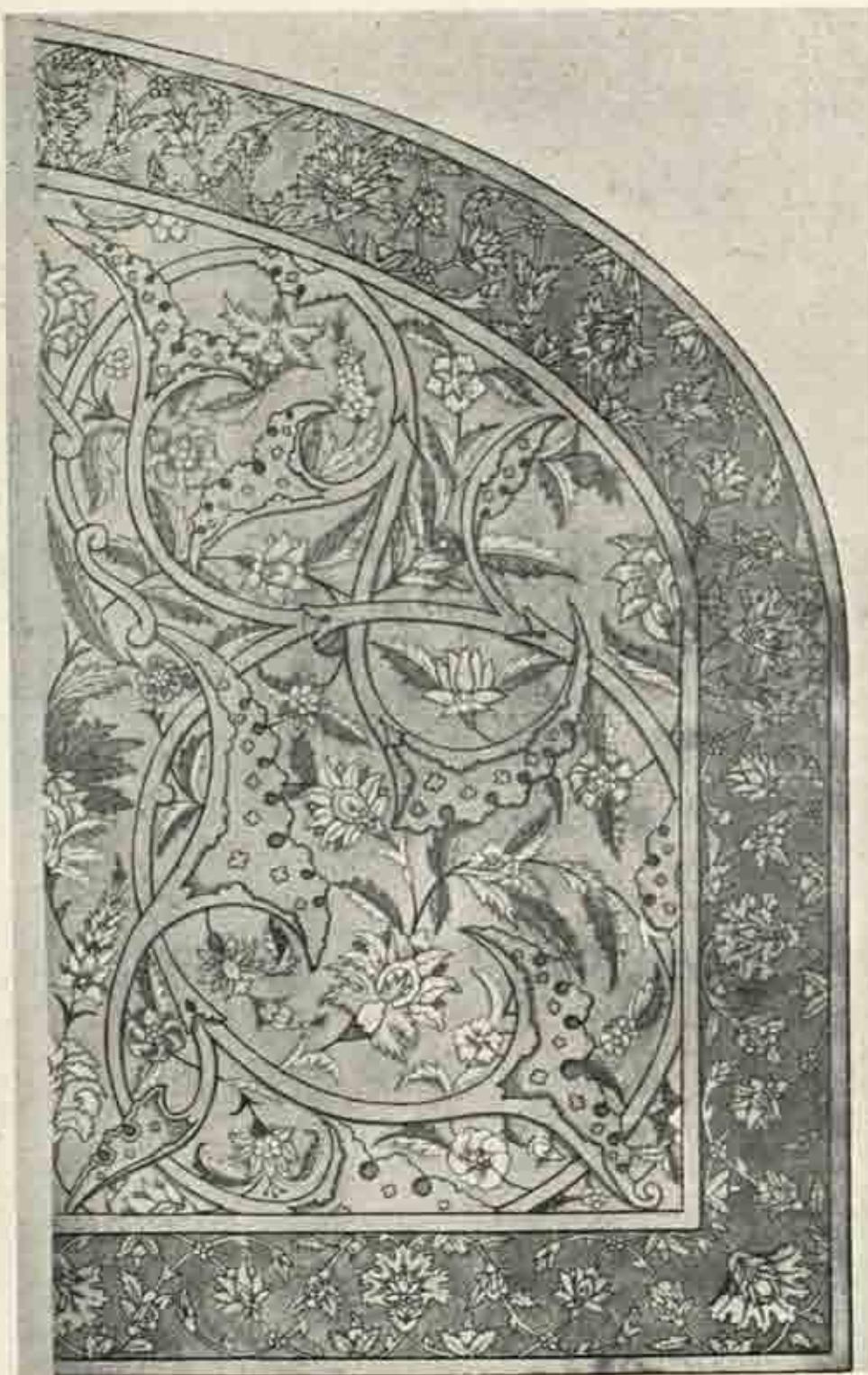
७३. मुख्य द्वार पर जड़ाऊ अलंकरण ।



७४. अकबर के मकबरे का परिचमी आलंकारिक द्वार।



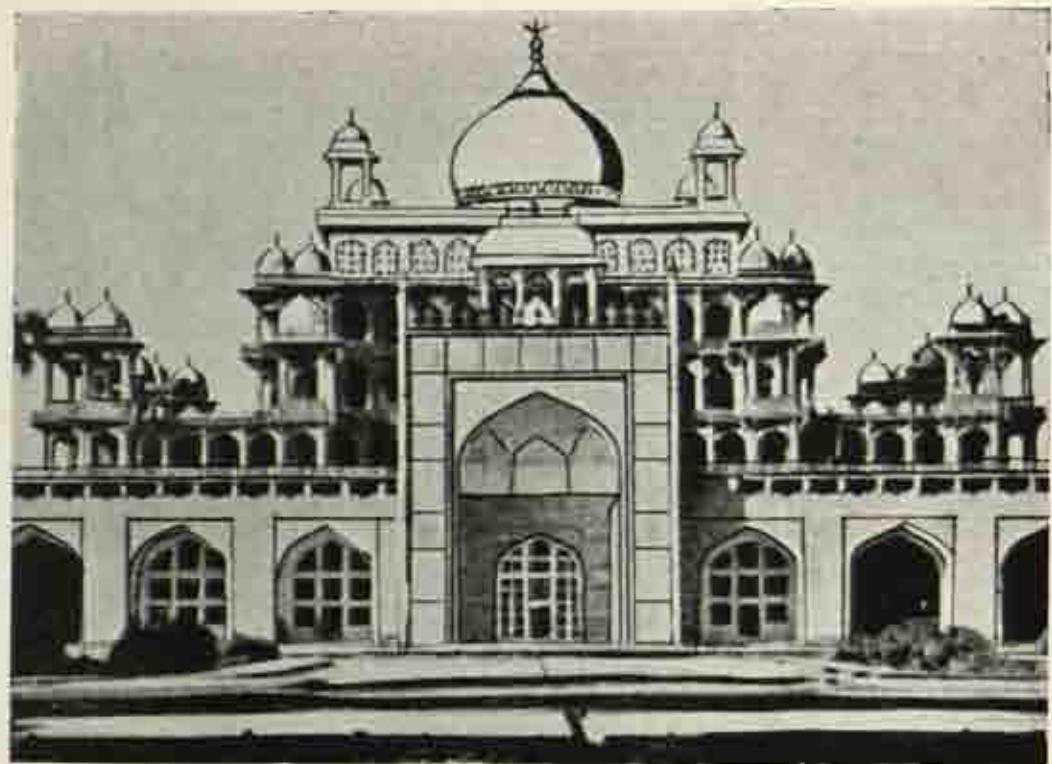
७५. हुमयूँ मकबरा।



७६. अन्तराल मण्डप में चित्र अलंकरण ।



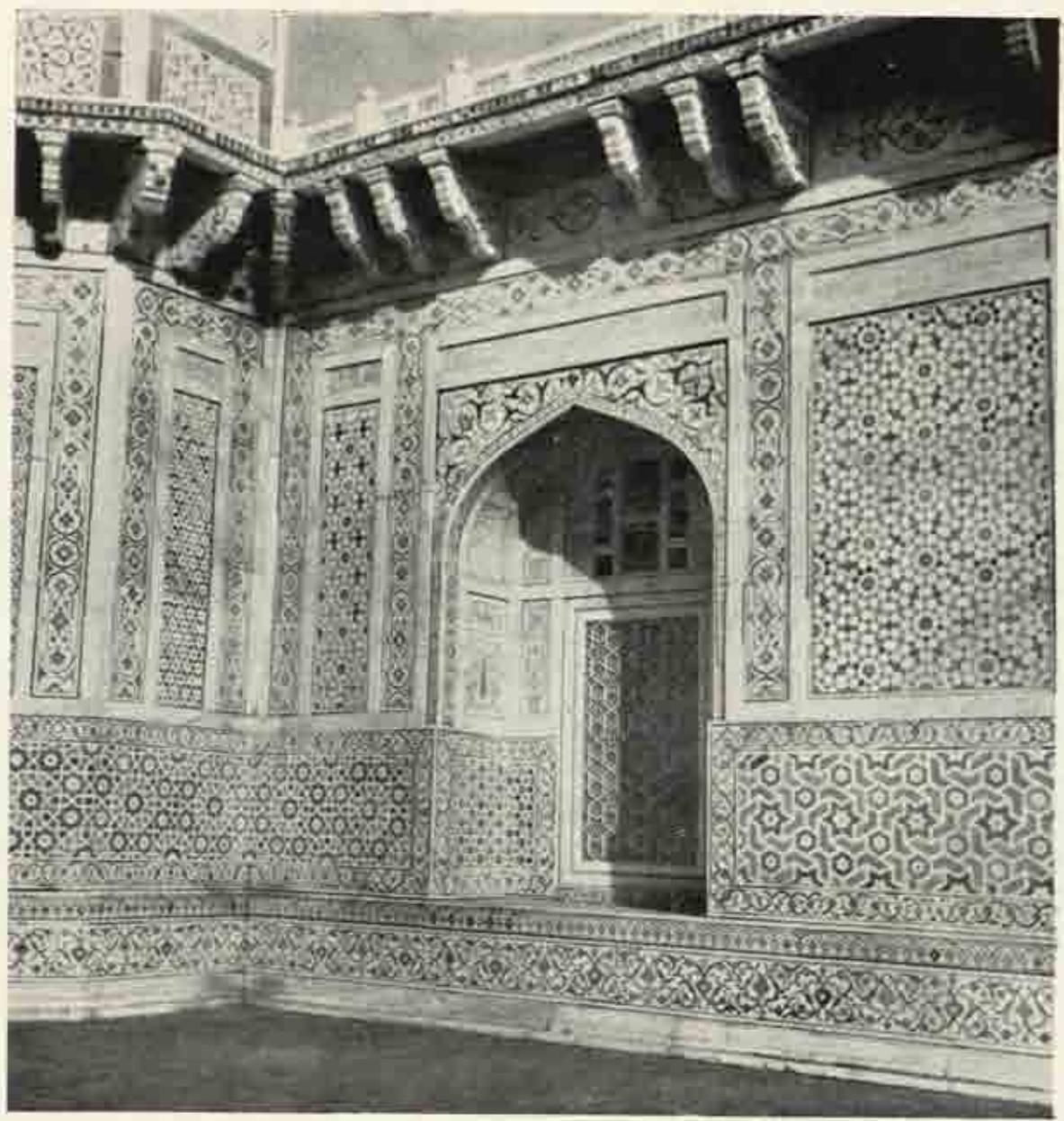
७७. ऊपरी मंजिलों में छत्रियों और महराबों की सजावट।



७८. अकबर के मकबरे पर काल्पनिक गुम्बद।



७९. हेमातुदीला का मकबरा, आगरा (१६२२-२५)



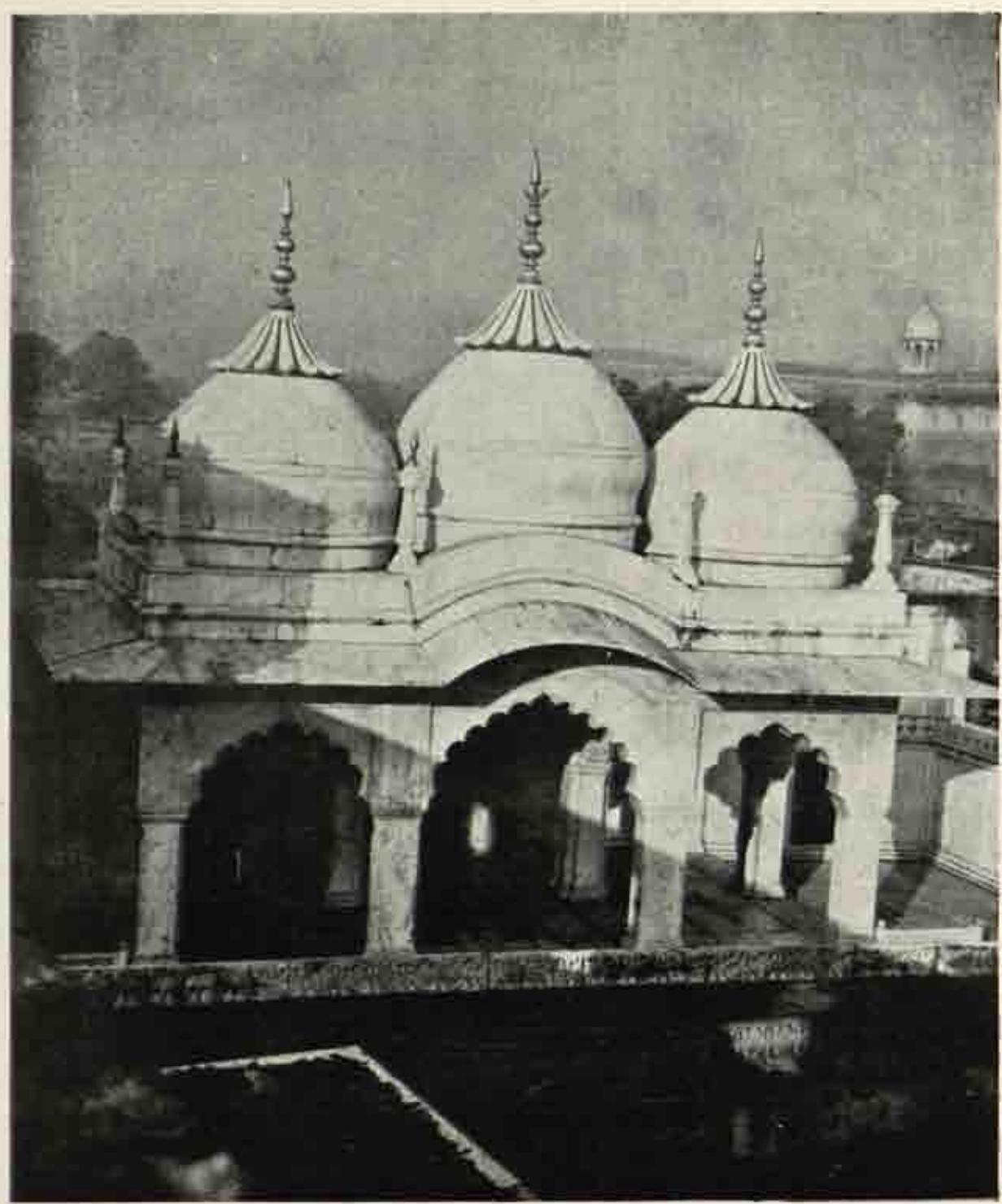
८०. ऐत्मात्वदीला का मकबरा में जड़ाऊ अलंकरण ।



८१. आगरे के किले का खास महल (१६२०-३६)



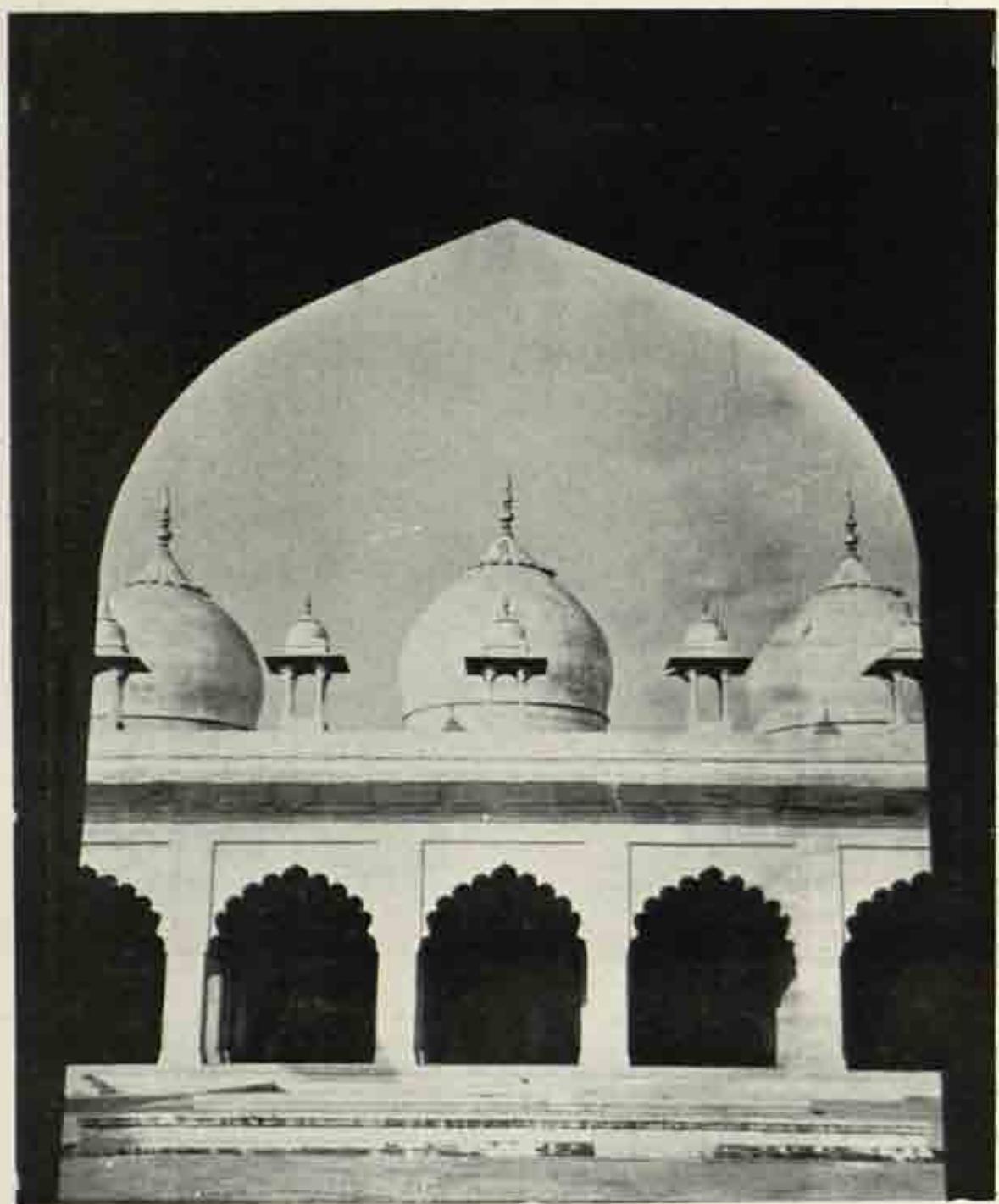
२२. आगरे के किले का दीवान-ए-खास (१६३५)



८३. आगरे के किले को नगरीना मस्जिद (१६२०-५८)



२४. आगरे के किले का दीवाने-ए-आम (१६२८-३६)



८५. आगरे के किले की मोती मजिस्तद (१६४८-५४)

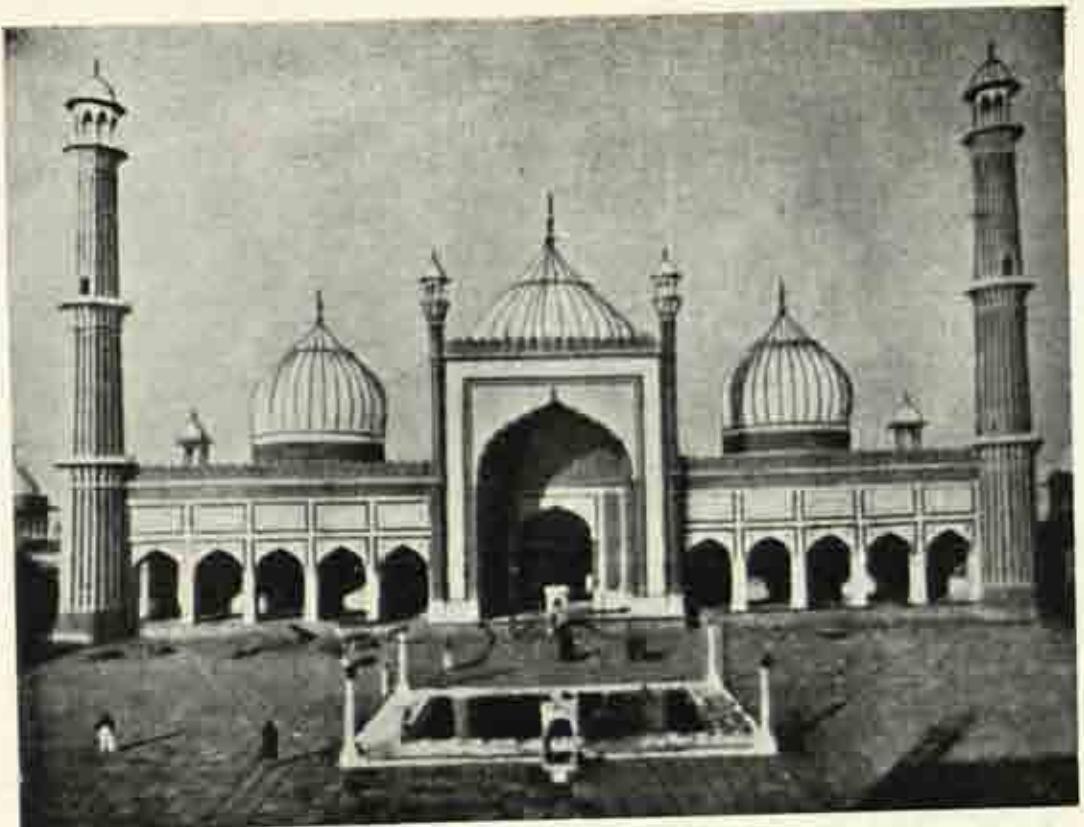


८६. दिल्ली के लालकिले के रंगमहल का कमल-सर (१६३८-४७)

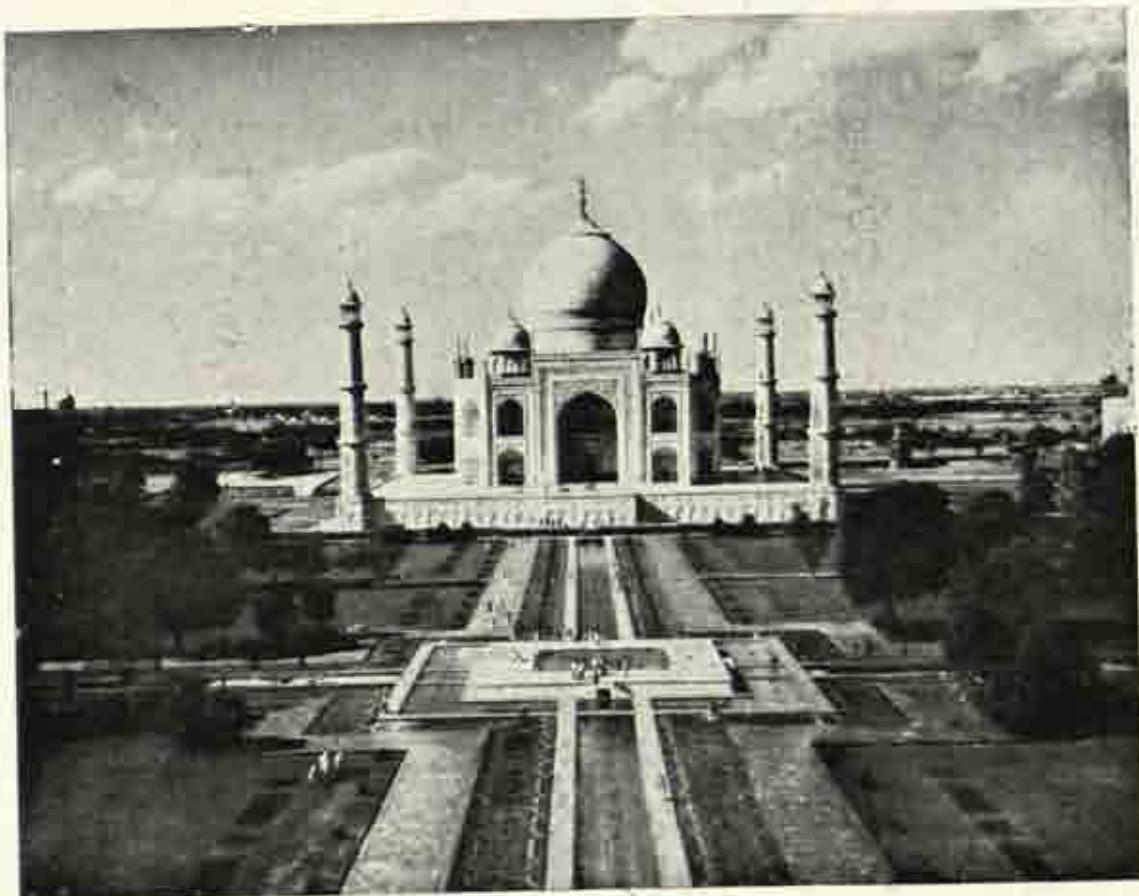
Gyan Chand Arya
Gwalior



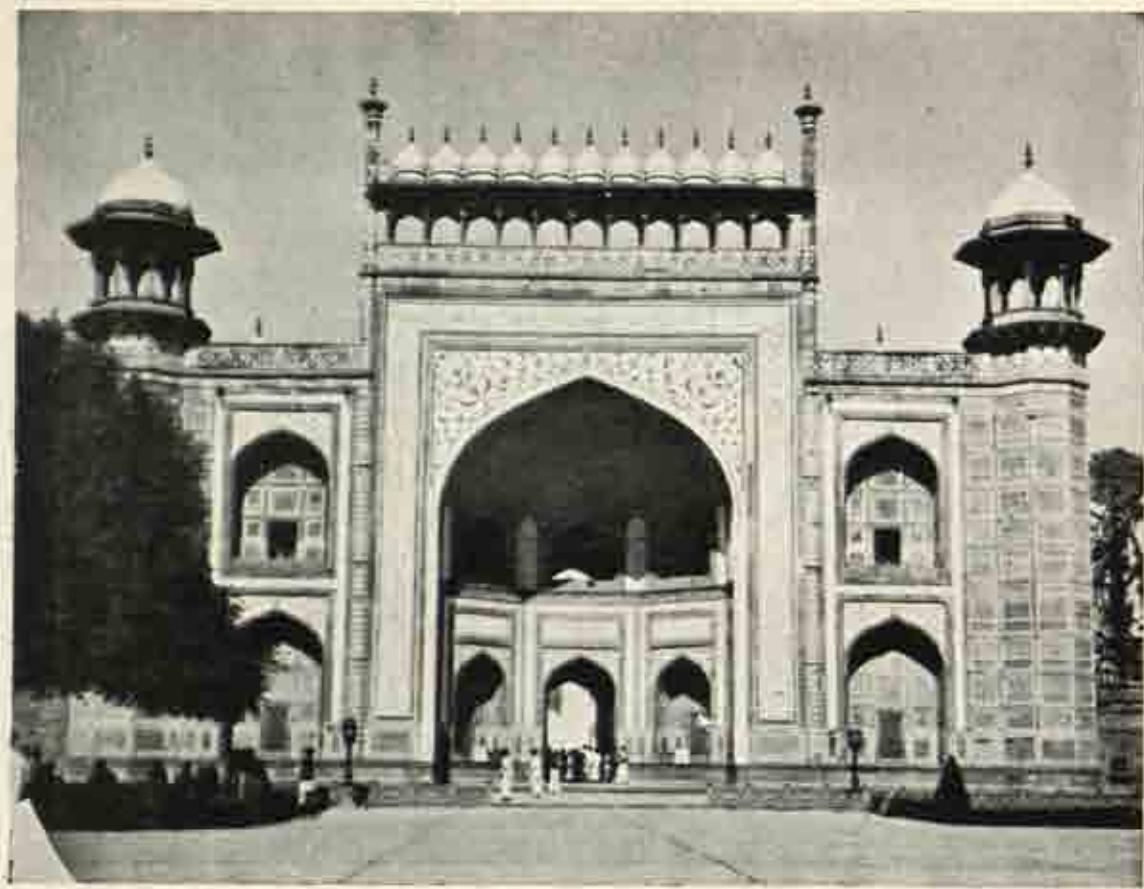
दृश्यमान किले की मोती मसिजद (१६५८)



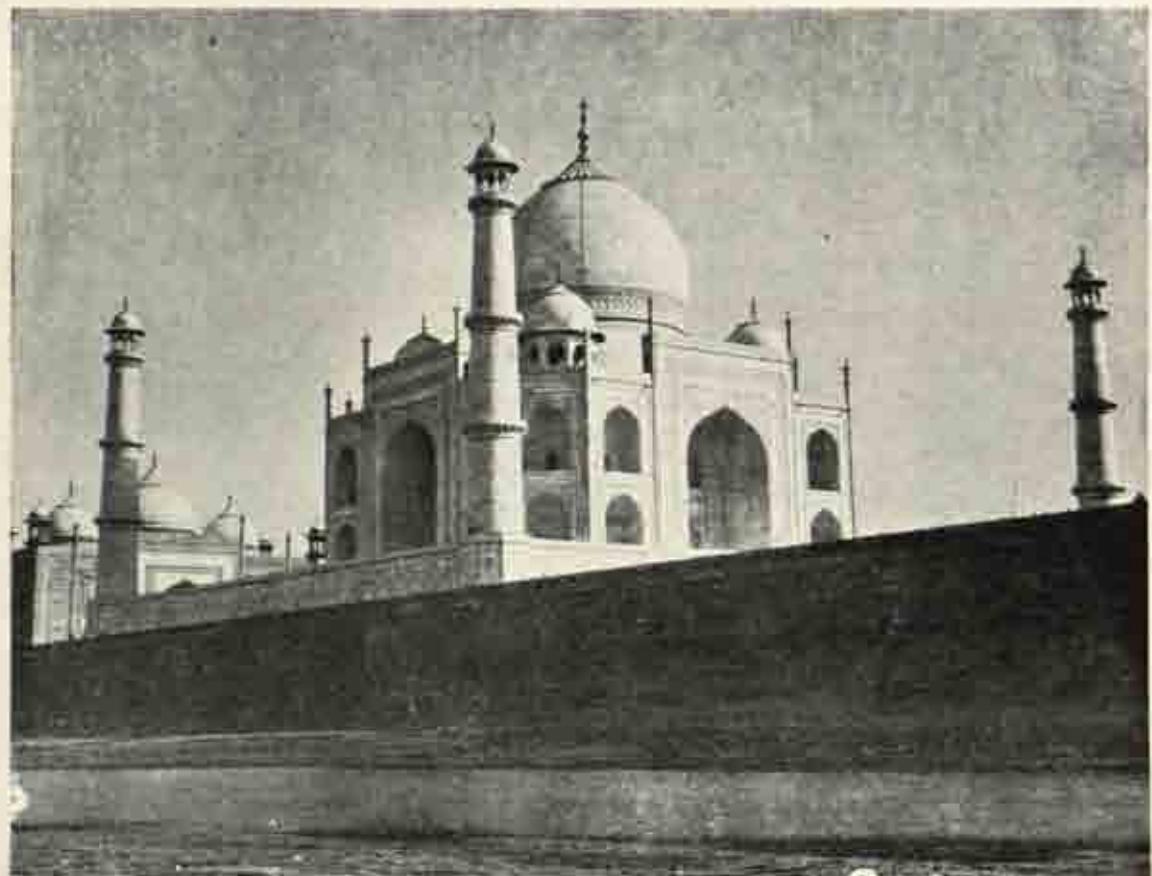
८८. दिल्ली की जामो मसजिद (१६५०)



८९. ताजमहल — पुर्वमुखि ।



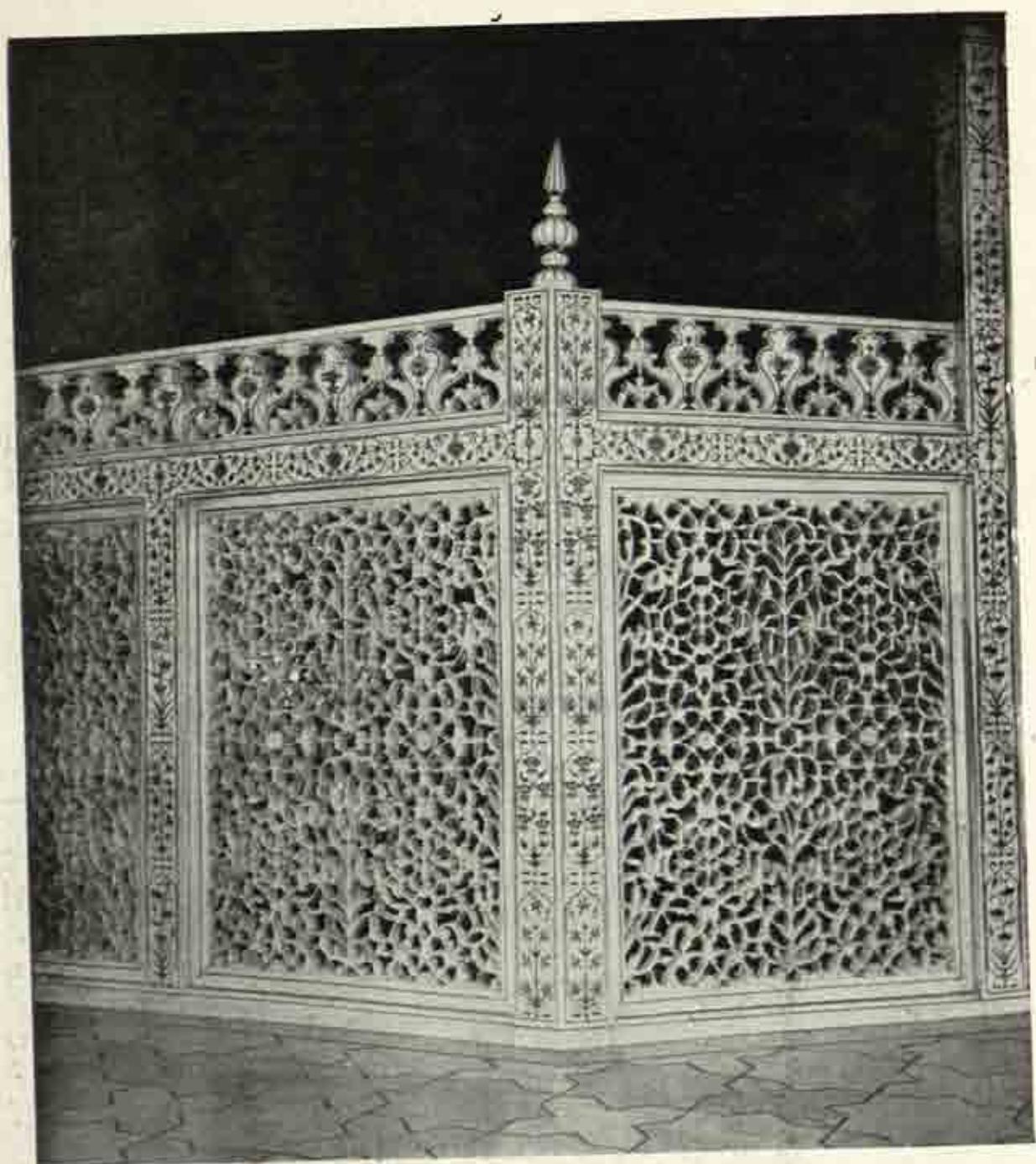
६०. ताजमहल का मुख्य द्वार (१६३१-४८)



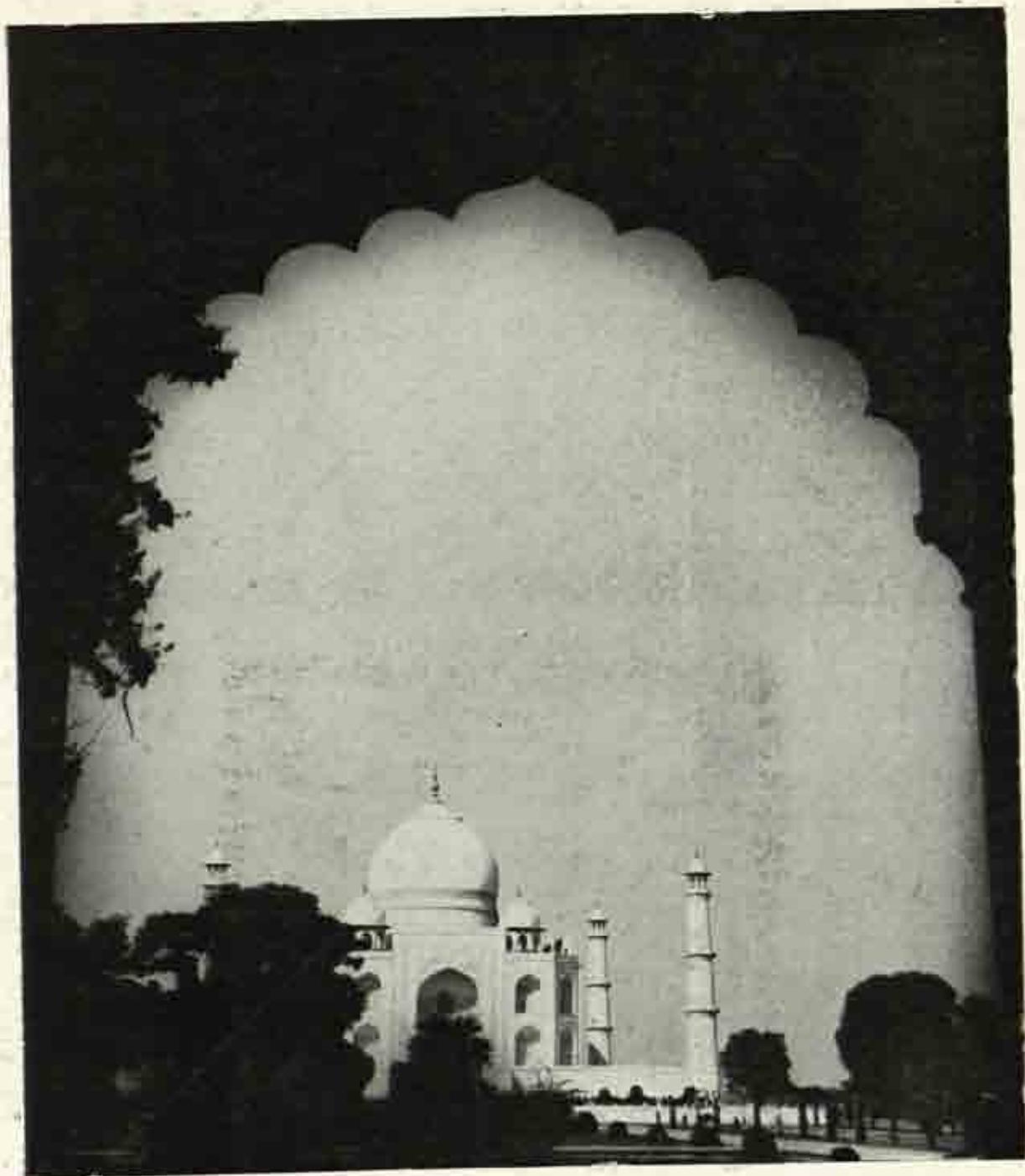
६१. ताजमहल—एक दृश्य।



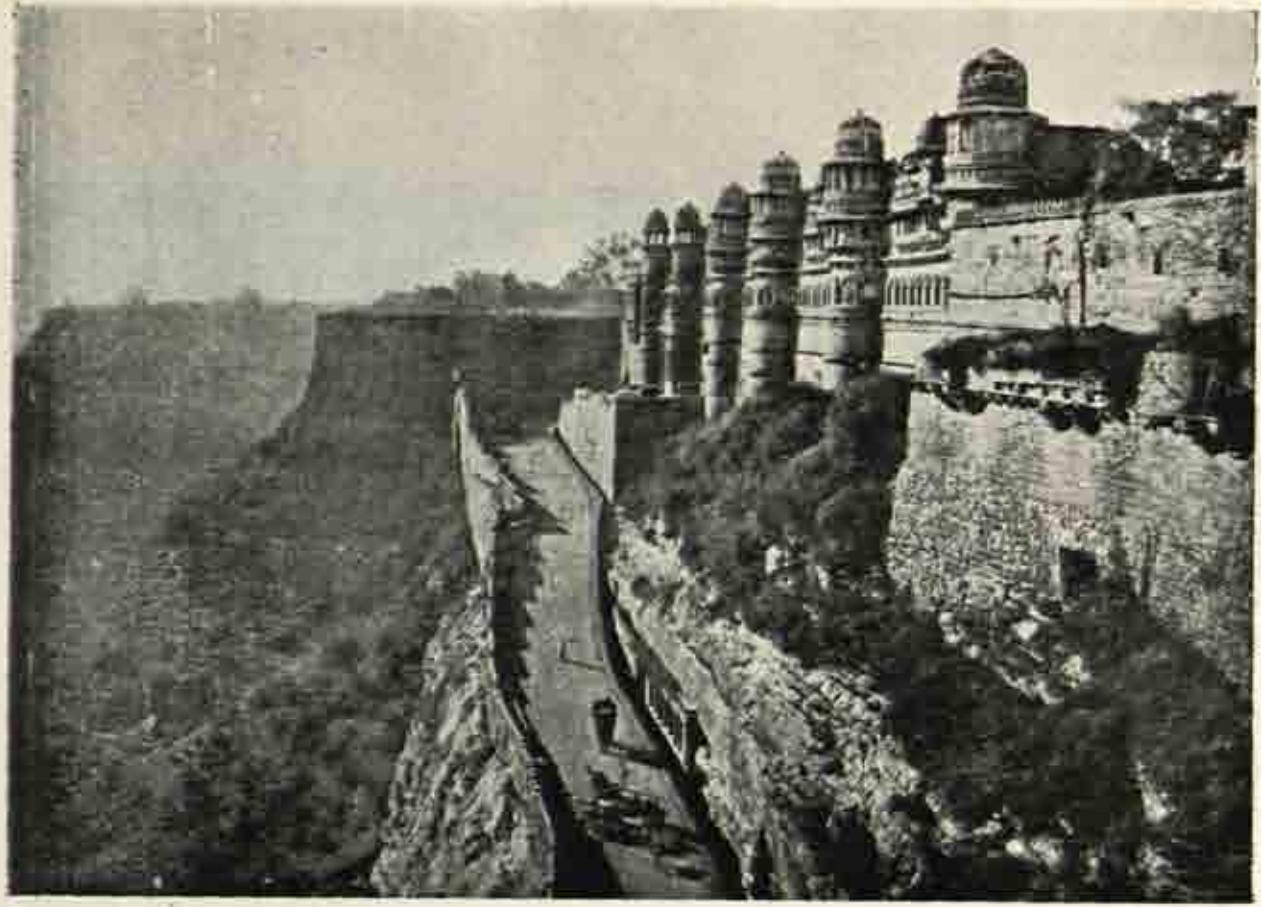
६२. ताजमहल—मूर्य कक्ष के उत्कोरण जडाऊ शिलापट् ।



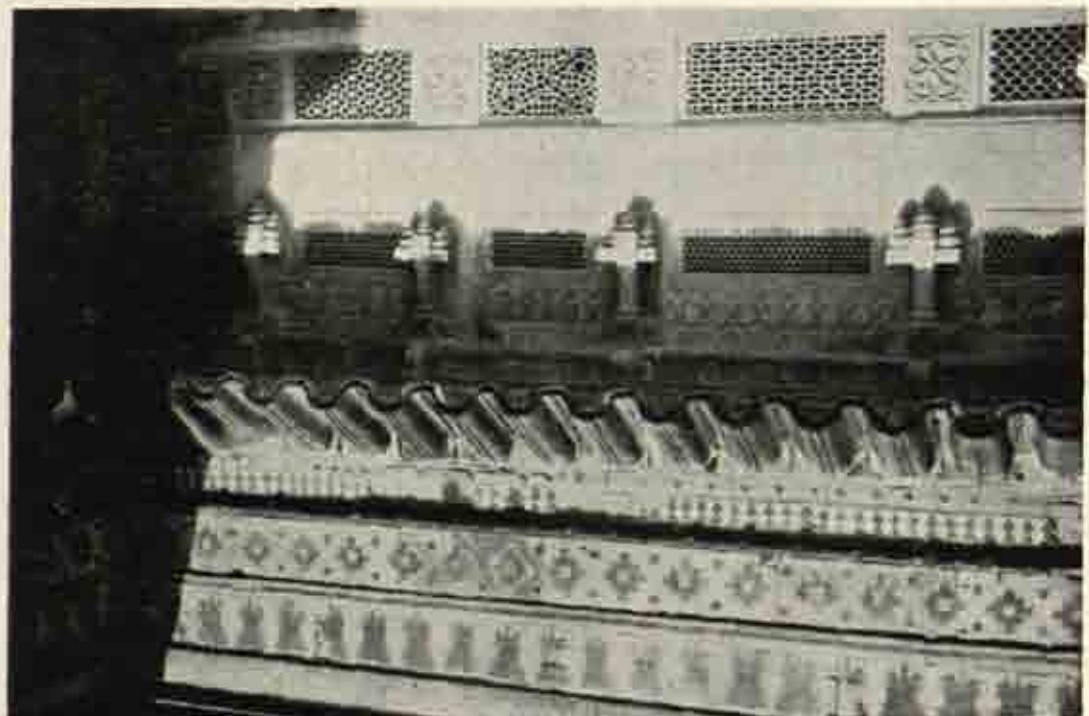
६३. ताजमहल—कर्णों के चाठों और जड़ों पर्दा।



६४. ताजमहल।



६५. मानमन्दिर, ग्वालियर (१५१०-१६)



६६. मानमन्दिर—भोतरी आंगन में रंगीन ढाइलों का अलंकरण

शुद्धि-पत्र

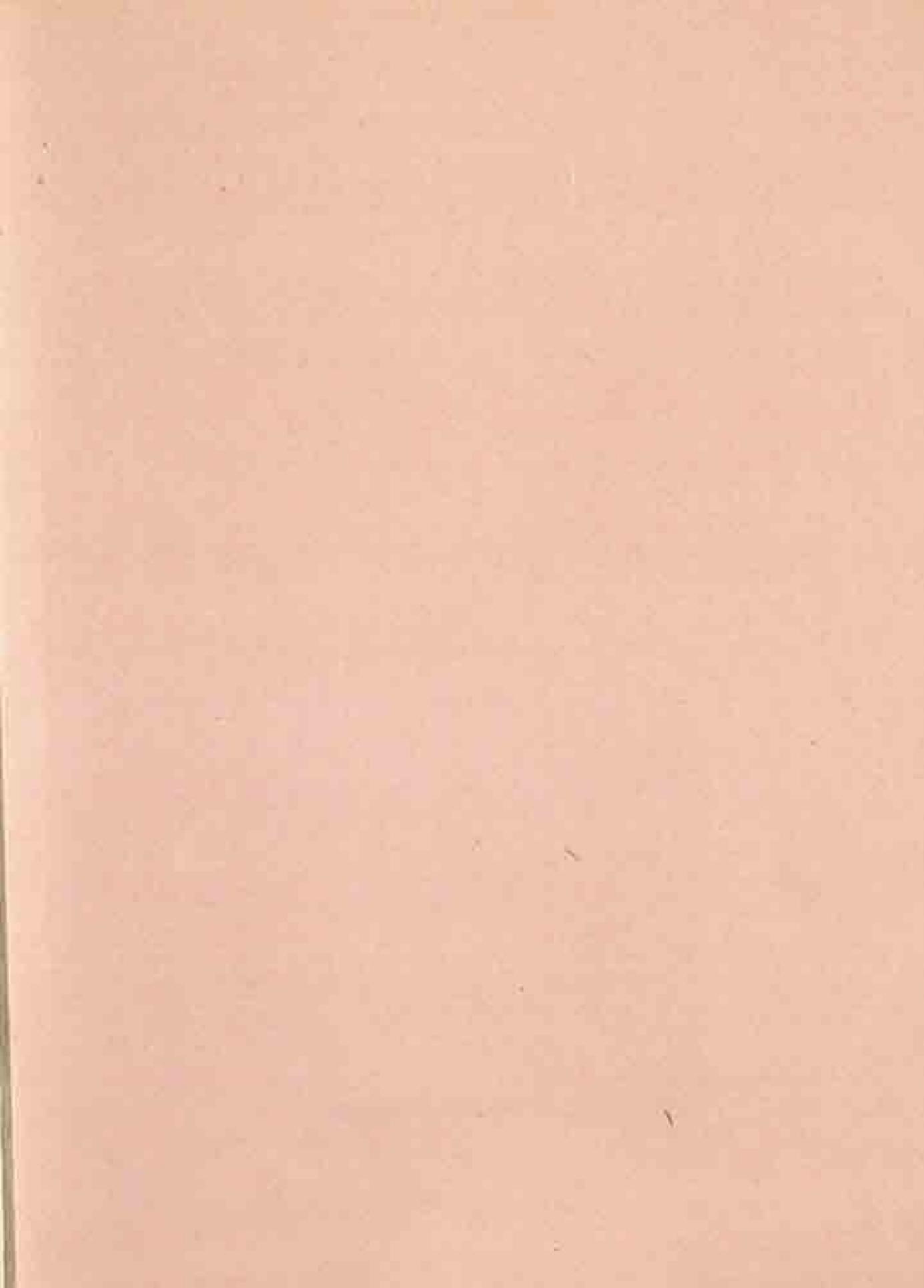
पृष्ठा	कालम	पंक्ति	अनुवाद	शुद्धि
२	२	६	है	अनावश्यक है
५	१	३२	प्रीर	"
१३	१	१	तिजीवि	तिजीवि
१४	१	८	गए हैं।"	गए हैं।
१७	१	७	पट्ट पौर पट्ट	पट्ट पौर पट्
२३	१	२२	महाराव	महाराव
२३	१	३०	वास्तुविद्वा	वास्तुविद्वा
३२	१	३४	प्रकट हुआ।	प्रकट हुआ। (चित्र २७)
३६	१	२६	ज्ञाते	ज्ञाते
३८	२	३०	बड़ी-बड़ी	बड़ी-बड़ी
४३	१	१३	निष्यावाणि	निष्यावाणि
४७	२	१५	चमानर	चमानर
५७	२	३४	उत्कृष्ट	उत्कृष्ट
५९	१	३-१०	तमाकरदम् तमामे उम मशरुके श्रावो-गिल कि इक दमा साहिब कुनह मन्जिल	तमाकरदन तमामी उआ रा मसरुक श्रोबो-गिल कि जायद मक दमी साहिब दिले इंजा कुमद मन्जिल

५७	१	२३	गिर	घिर
५८	२	७	मस्तिष्म	मस्तिष्म
६४	१	अन्तिम पंक्ति	बीधिकाओं	बीधिकाओं
६५	२	११	एकाकी	एकाकी
७०	१	२६	प्रभेष	प्रभेष
७१	२	२६	शोक	शोक
७२	१	५	आ	आ
७३	२	२६	कम्बो	कम्बो
७५	१	१५	जन	जन
८२	—	४	oli	Baoli
८३	—	३	वड	वप्र
८३	—	१३	Centeying	Centering

पृ०	कलिम	पत्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	—	१ ब्लॉक की	Finia	Finial
८६	—	१५	चित्रावलरी	चित्रवलरी
८७	—	१२	स्तम्भ/स्मल्म	स्तम्भ
८८	—	४	Bandhopadhyayi	Bandhopadhyaya
८९	—	१७	lames	James

चित्र संख्या ७ में पढ़िये—१४६६-१५०१

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भूले आम तौर पर और रह गयी हैं, जैसे 'म' कभी-कभी 'म' छप गया है और 'ड' ड' छप गया है। कहीं-कहीं 'व' और 'ब' का अन्तर नहीं रखा गया है। '०' के स्थान पर — प्रयुक्त दुश्या है। कहीं-कहीं 'इ' और 'ई' की मात्राशों में भी अन्तर है। नेत्रक और प्रकाशक इन भूलों के लिए क्षमा प्रार्थी हैं।



Spel -
27/11/78

Art - India

India - Art

Central Archaeological Library,

NEW DELHI.

56943

Call No. 709.54/Ram.

Author— Ram Nath

Madyakalina Pokara

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book
clean and moving.